ISSN 2277-5897 SABLOG
PEER REVIEWED JOURNAL

134

लोक चेतना का राष्ट्रीय मासिक

सबलोग

दिसम्बर 2024 • ₹ 40

गरीबी उन्मूलन : नीति और नीयत

- मन्दिरों में नहीं रह सकतीं आण्डाल
- हिन्दी आलोचना और विजयदेव नारायण साही
- नदियों के अस्तित्व पर नया खतरा

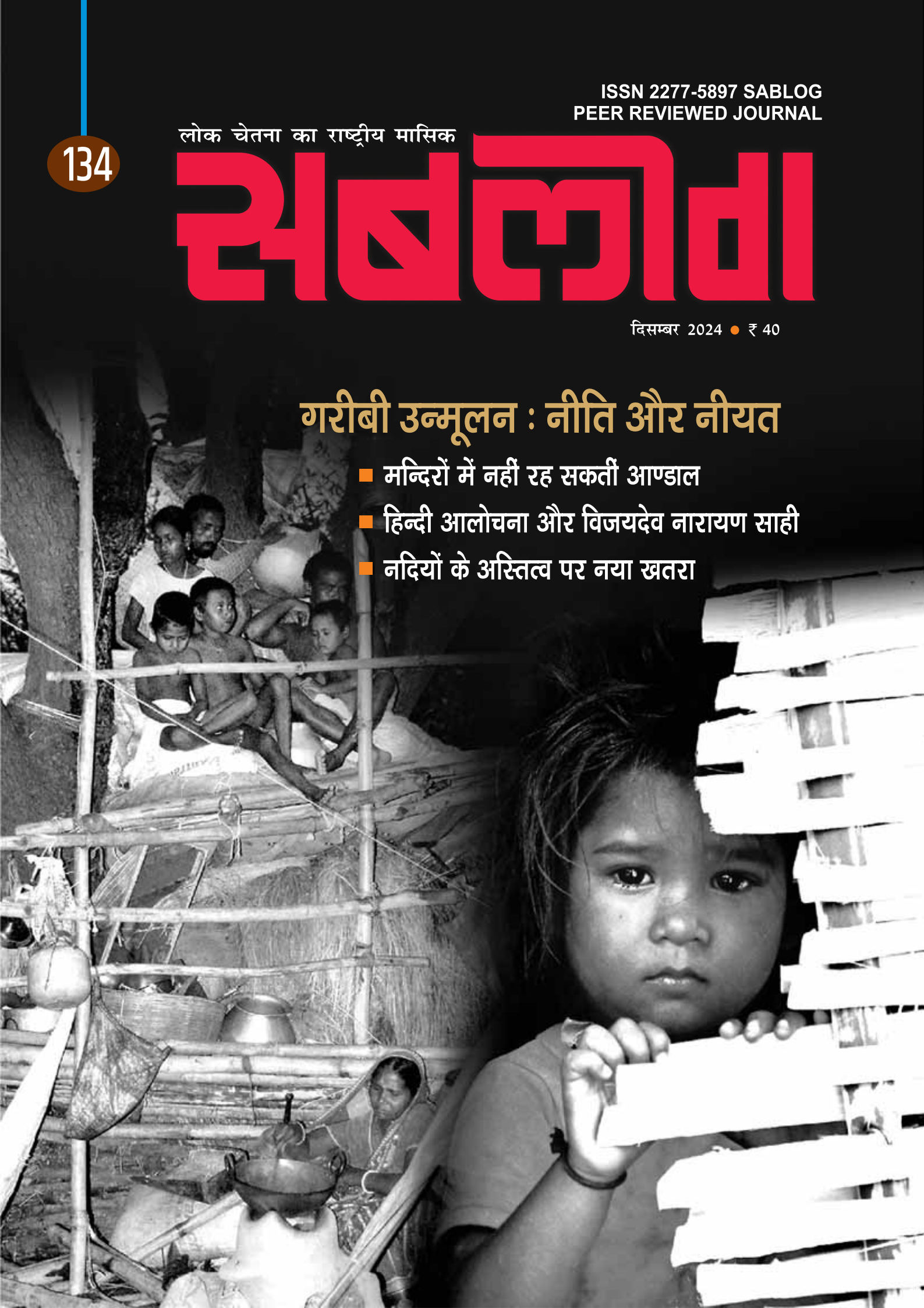

ISSN 2277-5897 SABLOG PEER REVIEWED JOURNAL

लोक चेतना का राष्ट्रीय मासिक

सबलोग

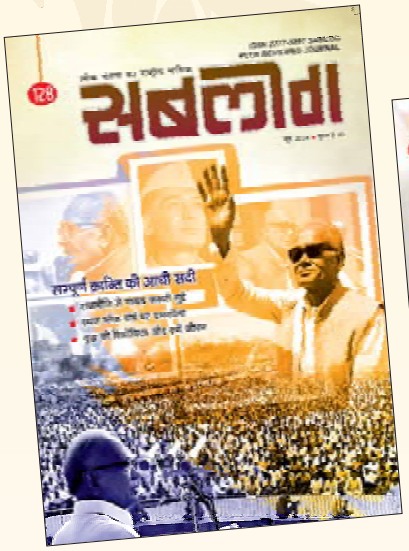

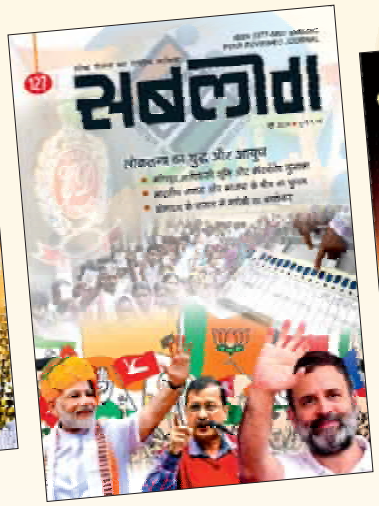

'सबलोग' की शुरुआत तब हुई जब समाज से विचार को बेदखल करने के वैश्विक अभियान की हवा तेज थी, जो आज दूनी रफ्तार से चल रही है, जब वैमनस्य बढ़ाने वाली और समरसता को भंग करने वाली राजनीति अपना विस्तार करने लगी थी और जब लोकतन्त्र को विकलांग बनाने के लिए उसके सभी खम्भों को हिलाया जाने लगा था।

2009 में निकले पहले अंक में आजादी के बाद का मूल्यांकन किया गया था। तब से आज तक यह हिन्दी के उन लेखकों की पसन्द बनी हुई है जो विचारपरक लेखन से बेहतर दुनिया बनाने का मोर्चा सम्भालते रहे हैं। 'सबलोग' जहाँ अपने प्रिण्ट एडिशन में किसी ज्वलन्त और जरूरी मुद्दे पर अभियान की तरह गहन विचार-विमर्श का मासिक आयोजन करती है वहीं अपने पोर्टल पर यह समकालीनता के केन्द्रीय बिन्दु के आसपास प्रखर वैचारिकता से लैस बहुआयामी विमर्श की दैनिक प्रस्तुति से पाठकों को एक खास अन्दाज में आकर्षित करती है।

यह अकारण नहीं कि आज 'सबलोग' वैकल्पिक मीडिया की विश्वस्त आवाज बनी हुई है। यह आवाज दूर तक जाए और इस आवाज का असर भी हो इसके लिए आपके भरोसे और सहयोग की जरूरत है।

कृपया 'सबलोग' को अर्थसहयोग करें।

सबलोग

खाता संख्या : 49480200000045

बैंक ऑफ बड़ौदा

शाखा : बादली, दिल्ली

IFSC - BARB0TRDBAD

Scan to pay with any UPI app

सबलोग-134

वर्ष 15, अंक 12, दिसम्बर 2024

ISSN 2277-5897 SABLOG
PEER REVIEWED JOURNAL
www.sablog.in

सम्पादक
किशन कालजयी

संयुक्त सम्पादक
प्रकाश देवकुलिश
राजन अग्रवाल

उप-सम्पादक
गुलशन चौधरी

ब्यूरो
उत्तर प्रदेश : शिवाशंकर पाण्डेय
मध्य प्रदेश : जावेद अनीस
बिहार : कुमार कृष्णन
झारखण्ड : विवेक आर्यन

समीक्षा समिति (Peer Review Committee)
आनन्द कुमार
सुबोध नारायण मालाकार
मणीन्द्र नाथ ठाकुर
मंजु रानी सिंह
सफदर इमाम कादरी
राजेन्द्र रवि
मधुरेश
आनन्द प्रधान
महादेव टोप्पो
विजय कुमार
आशा
सन्तोष कुमार शुक्ल
अखलाक 'आहन'

प्रबन्ध निदेशक
अभय कुमार झा

सम्पादकीय सम्पर्क
बी-3/44, तीसरा तल, सेक्टर-16,
रोहिणी, दिल्ली-110089
+ 918340436365
sablogmonthly@gmail.com

सदस्यता शुल्क
एक अंक : 40 रुपये–वार्षिक : 450 रुपये
द्विवार्षिक : 900 रुपये–आजीवन : 5000 रुपये

सबलोग
खाता संख्या-49480200000045
बैंक ऑफ बड़ौदा,
शाखा-बादली, दिल्ली
IFSC-BARB0TRDBAD
(Fifth Character is Zero)

स्वामी, सम्पादक, प्रकाशक व मुद्रक किशन कालजयी द्वारा बी-3/44, सेक्टर-16, रोहिणी, दिल्ली-110089 से प्रकाशित और लक्ष्मी प्रिण्टर्स, 556 जी.टी. रोड शाहदरा दिल्ली-110032 से मुद्रित।

पत्रिका में प्रकाशित आलेखों में व्यक्त विचार लेखकों के हैं, उनसे सम्पादकीय सहमति अनिवार्य नहीं।

पत्रिका अव्यावसायिक और सभी पद अवैतनिक।
पत्रिका से सम्बन्धित किसी भी विवाद के लिए न्यायक्षेत्र दिल्ली।

संवेद फाउण्डेशन का मासिक प्रकाशन

गरीबी उन्मूलन : नीति और नीयत

गरीबी उन्मूलन और संसदीय राजनीति : **सरोज कुमार वर्मा** 4
गरीबी मिटाने को लेकर कितनी गम्भीरता : **बसन्त हेतमसरिया** 6
...और गरीब बढ़ते गये : **अनिल चमड़िया** 8
नेकनीयत और स्पष्ट नीति की जरूरत : **घनश्याम** 10
लोकतन्त्र और कथित रेवड़ी संस्कृति : **प्रमोद मीणा** 12
सामाजिक सुरक्षा और राज्य की अवधारणा : **प्रमोद कुमार** 15
समकालीन भारत में गरीबी उन्मूलन : **सुधीर कुमार सुथार** 17
मानवीय गरिमा की बलि : **राहुल यादुका** 19

सृजनलोक

आठ कविताएँ : **अंचित,** टिप्पणी : **हृषीकेश सुलभ,** रेखांकन : **प्रीतिमा वत्स** 21

राज्य

हरियाणा / काँग्रेस के गले की फाँस : **धर्मपाल धनखड़** 23
उत्तर प्रदेश / पोस्टर की लड़ाई : **शिवा शंकर पाण्डेय** 25
झारखण्ड / जिन मुद्दों ने इतिहास रचा : **विवेक आर्यन** 27
मणिपुर / संकट के कगार पर : **जमुना सुखाम** 30

स्तम्भ

चतुर्दिक / जस्टिस चन्द्रचूड़ : कोर्ट के भीतर और बाहर : **रविभूषण** 32
तीसरी घण्टी / डिवाइस थिएटर के ऊबड़-खाबड़ रास्ते : **राजेश कुमार** 35
यत्र-तत्र / प्रेम-कहानी : पूरे का अधूरा रह जाना : **जय प्रकाश** 38
देशान्तर / हिजबुल्लाह - राज्य के भीतर का राज्य : **धीरंजन मालवे** 41
परती परिकथा / एक नयी शब्दावली की जरूरत : **हितेन्द्र पटेल** 43
कविताघर / कविता पर ही लिखी जाती कविता : **प्रियदर्शन** 46

विविध

इतिहास / मन्दिरों में नहीं रह सकतीं आण्डाल : **सुभाष राय** 48
जन्मशती / हिन्दी आलोचना और विजयदेव नारायण साही : **मुक्तेश्वर नाथ तिवारी** 51
शहरनामा / नदियों के अस्तित्व पर नया खतरा : **सिद्धान्त कुमार** 54
समाज / जीवन से जुड़ी आजीविका : **अशीष कोठारी** 57
साहित्य / शापग्रस्त दौर के कहानीकार अखिलेश : **गुलनाज बेगम** 59
सिनेमा / जिन्दगी में 'ईब आले ऊ' के मायने : **रक्षा गीता** 62
पुस्तक समीक्षा / निर्माण प्रक्रिया की मौन सहयात्रा : **प्रमोद कुमार झा** 65
लिये लुकाठी हाथ / हाँ पुल गिरा, तो? : **निवास चन्द्र ठाकुर** 66

आवरण चित्र : **शशिशंकर**

संयोजन : **शशिकान्त सिंह**

अगला अंक : नया साल, नये सवाल

गरीबी उन्मूलन और संसदीय राजनीति

सरोज कुमार वर्मा

गरीबी का उन्मूलन सदियों से समाज का एक बड़ा उद्देश्य रहा है। विश्व स्तर पर, गरीबी न केवल आर्थिक बल्कि सामाजिक, सांस्कृतिक, और राजनीतिक विकास में भी बाधा उत्पन्न करती है। गरीबी उन्मूलन से जुड़ी प्रमुख चुनौतियों में अशिक्षा, बेरोजगारी, और स्वास्थ्य सेवाओं की कमी शामिल हैं, जिनसे गरीब तबके को गरीबी की दुष्चक्र में फँसा हुआ रखा जाता है। संयुक्त राष्ट्र ने गरीबी उन्मूलन को अपने 'सतत् विकास लक्ष्य (एसडीजी)' का प्रमुख घटक बनाया है, जिसका लक्ष्य 2030 तक गरीबी को समाप्त करना है।

लेखक जयप्रकाश विश्वविद्यालय छपरा (बिहार) के राजनीति विज्ञान विभाग के पूर्व प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष हैं।

+9170043 58535

sarojkverma@gmail.com

भारत सरकार द्वारा गरीबी उन्मूलन के लिए कई योजनाएँ लायी गयी हैं। महात्मा गाँधी राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारण्टी अधिनियम (मनरेगा) जैसी योजनाएँ ग्रामीण क्षेत्रों में रोजगार के अवसर बढ़ाने का कार्य करती हैं। इसके अलावा, प्रधानमन्त्री जन-धन योजना ने गरीब तबकों को बैंकिंग सुविधाओं से जोड़कर वित्तीय समावेशन को बढ़ावा दिया है। गरीबी उन्मूलन की दिशा में किये गये उपायों का सबसे बड़ा लाभ यह है कि वे न केवल आर्थिक स्तर पर बल्कि सामाजिक सुरक्षा के क्षेत्र में भी स्थिरता प्रदान करते हैं।

संसदीय प्रणाली का मूल उद्देश्य समाज के प्रत्येक वर्ग के हितों का संरक्षण करना और उनके विकास के लिए नीतियाँ बनाना है। संसदीय राजनीति के माध्यम से जनप्रतिनिधि गरीब और कमजोर वर्ग के लोगों की आवाज को ऊपर तक पहुँचाते हैं और उनके उत्थान के लिए नीतियाँ बनाने में सहायक होते हैं। संसदीय राजनीति का एक बड़ा पहलू यह है कि इसके माध्यम से गरीबों के हित में कई योजनाओं को लागू करने के लिए बजट आवंटन और नीति-निर्माण का काम किया जाता है। उदाहरण के तौर पर, ग्रामीण क्षेत्रों में रोजगार, स्वास्थ्य और शिक्षा के लिए संसद में विस्तृत चर्चा के बाद नीतियाँ बनायी जाती हैं।

सामाजिक सुरक्षा का उद्देश्य कमजोर वर्गों को आर्थिक और सामाजिक सुरक्षा प्रदान करना है ताकि वे जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं को पूरा कर सकें और गरीबी से बच सकें। सामाजिक सुरक्षा का लाभ विशेषकर उन लोगों को मिलता है, जो गरीबी रेखा के नीचे जीवन व्यतीत कर रहे हैं। इन योजनाओं के अन्तर्गत पेंशन, बीमा, मातृत्व लाभ, स्वास्थ्य सेवाएँ, और विकलांगता सहायता जैसे कार्यक्रम शामिल हैं। सामाजिक सुरक्षा के ये उपाय उन्हें सामाजिक-आर्थिक जोखिमों से बचाते हैं और उन्हें आर्थिक स्वतन्त्रता देते हैं।

भारत में सामाजिक सुरक्षा योजनाओं का एक बड़ा उदाहरण ''प्रधानमन्त्री जन आरोग्य योजना'' (आयुष्मान भारत) है, जो स्वास्थ्य क्षेत्र में गरीब परिवारों को सुरक्षा प्रदान करती है। इसके अतिरिक्त, अटल पेंशन योजना ने असंगठित क्षेत्रों में काम करने वाले लोगों को वृद्धावस्था में वित्तीय सुरक्षा दी है। ये सभी योजनाएँ गरीब और कमजोर वर्ग के लोगों को सशक्त बनाने के उद्देश्य से चलायी जा रही हैं।

अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर भी, कई देश अपनी जनसंख्या को गरीबी और असमानता से बचाने के लिए विभिन्न सामाजिक सुरक्षा योजनाओं का संचालन कर रहे हैं। उदाहरण के लिए, अमेरिका की 'सोशल सिक्योरिटी' प्रणाली ने वृद्धावस्था और विकलांगता में नागरिकों को वित्तीय सुरक्षा प्रदान की है, जो उन्हें जीवन के कठिन समय में मदद करती है। इसी प्रकार, कई यूरोपीय देशों में भी सामाजिक सुरक्षा योजनाओं का विस्तार है, जो कमजोर वर्गों की सुरक्षा सुनिश्चित करते हैं।

गरीबी उन्मूलन, संसदीय राजनीति और सामाजिक सुरक्षा तीनों परस्पर जुड़े हुए हैं और समाज की प्रगति के लिए एक-दूसरे पर निर्भर करते हैं। सामाजिक सुरक्षा के माध्यम से गरीबों और वंचित वर्गों को आर्थिक स्थिरता और सुरक्षा प्रदान की जाती है। सामाजिक सुरक्षा योजनाएँ संसदीय राजनीति का एक महत्त्वपूर्ण घटक हैं, जिन्हें संसद के माध्यम से ही लागू और संचालित किया जाता है। गरीबी उन्मूलन के लिए बनाये गये संसाधन, नीतियाँ, और बजट आवंटन संसद में गरीबों की सुरक्षा के लिए बनी योजनाओं का प्रत्यक्ष परिणाम होते हैं।

गरीबी उन्मूलन के लिए न केवल सरकारी प्रयास बल्कि निजी क्षेत्र, गैर-सरकारी संगठन और समुदाय का भी सक्रिय योगदान आवश्यक है। संसदीय राजनीति द्वारा इन नीतियों का कुशलतापूर्वक कार्यान्वयन और सामाजिक सुरक्षा योजनाओं का लाभ गरीब तबके तक पहुँचाना एक जटिल कार्य है, जिसके लिए प्रशासनिक ढाँचे और जनप्रतिनिधियों की भूमिका महत्त्वपूर्ण होती है। इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए सतत् प्रयास और प्रभावी नीतियों की आवश्यकता है। यह तब सम्भव है जब संसदीय प्रणाली गरीबी और सामाजिक सुरक्षा से जुड़े मुद्दों पर त्वरित और ठोस निर्णय ले और समाज में गरीबी की जड़ों को समाप्त करने के लिए समर्पित हो।

भारत में गरीबी उन्मूलन के लिए सरकारें विभिन्न योजनाओं का संचालन करती हैं, जैसे प्रधानमन्त्री आवास योजना (पी. एम.ए.वाई), राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारण्टी योजना (मनरेगा), जनधन योजना, और आयुष्मान भारत योजना। इनका उद्देश्य गरीब वर्गों को बुनियादी सुविधाएँ उपलब्ध कराना है, लेकिन इन योजनाओं के कार्यान्वयन में कई बार भ्रष्टाचार और कुप्रबन्धन देखने को मिलता है। उदाहरण के तौर पर, मनरेगा में कई बार लाभार्थियों की हाजिरी में हेरा-फेरी की जाती है, जिससे वास्तविक मजदूरों को पूरा वेतन नहीं मिल पाता। भ्रष्टाचार के कारण यह योजना कुछ क्षेत्रों में केवल कागजों पर चलती हुई प्रतीत होती है। प्रधानमन्त्री आवास योजना का उद्देश्य प्रत्येक नागरिक को सस्ती दर पर आवास उपलब्ध कराना है, लेकिन कई बार यह देखा गया है कि आवास का निर्माण घटिया सामग्री से किया जाता है और कुछ लोग जिन्हें योजना का लाभ नहीं मिलना चाहिए, वे भी इस योजना का लाभ ले लेते हैं।

इन योजनाओं का उद्देश्य तो गरीबी मिटाना है, लेकिन ये योजनाएँ गरीबी के मूल कारणों पर ज्यादा ध्यान नहीं देतीं। गरीबी का प्रमुख कारण शिक्षा और कौशल की कमी है। उदाहरण के लिए, कई अनुसूचित क्षेत्रों में बच्चों के लिए सरकारी स्कूल हैं, परन्तु वहाँ शिक्षकों की कमी होती है या फिर वे स्कूल नियमित रूप से नहीं आते। इस कारण, बच्चों को गुणवत्तापूर्ण शिक्षा नहीं मिल पाती, जिससे वे जीवन में अच्छा रोजगार नहीं पा सकते और गरीबी के दुष्चक्र में फँसे रहते हैं। इसी तरह, आयुष्मान भारत योजना स्वास्थ्य सेवाओं को सस्ती और सुलभ बनाती है, परन्तु इस योजना के तहत गरीबों को केवल कुछ खास अस्पतालों में इलाज की सुविधा दी जाती है। इन अस्पतालों में अक्सर गरीब मरीजों को अच्छे उपचार की जगह केवल औपचारिकता निभाने की तरह देखा जाता है। ऐसे में स्वास्थ्य सेवाओं की गुणवत्ता और पहुँच भी एक बड़ा प्रश्न बन जाती है।

गरीबी उन्मूलन योजनाओं का एक बड़ा हिस्सा सरकार की छवि चमकाने और वोट बैंक मजबूत करने पर केन्द्रित रहता है। उदाहरण के लिए, चुनावी वर्षों में इन योजनाओं की गति तेज कर दी जाती है और विभिन्न योजनाओं के तहत लाभार्थियों की संख्या बढ़ाने पर जोर दिया जाता है। जनधन योजना का प्रचार-प्रसार बहुत बड़े स्तर पर हुआ था, जिससे अधिक-से-अधिक लोग बैंक खाता खोल सकें, परन्तु कई मामलों में यह देखा गया है कि इन खातों में धन की कमी होती है, और इन्हें नियमित रूप से उपयोग नहीं किया जाता। कुछ योजनाओं में लाभार्थियों का चयन राजनीतिक दलों के समर्थकों में से किया जाता है, ताकि आगामी चुनावों में उनके वोट सुनिश्चित किये जा सकें। इस प्रकार, यह योजना गरीबी मिटाने के बजाय एक राजनीतिक औजार के रूप में कार्य करती है।

गरीबी उन्मूलन का लक्ष्य केवल राहत योजनाओं पर निर्भर रहने से नहीं प्राप्त होगा। इसकी जगह लघु उद्योगों को प्रोत्साहित करना और गरीब वर्गों को स्वरोजगार के अवसर प्रदान करना अधिक लाभकारी हो सकता है। उदाहरण के तौर पर, उत्तर प्रदेश में कई गैर-सरकारी संगठनों ने महिला स्व-सहायता समूहों की स्थापना की है, जिनमें महिलाएँ छोटे-छोटे कुटीर उद्योग चलाती हैं। ये समूह महिलाओं को आत्मनिर्भर बनाने में मदद कर रहे हैं और उनके परिवार की आय में भी वृद्धि कर रहे हैं। कौशल विकास योजना के तहत युवाओं को विभिन्न तकनीकी कौशलों में प्रशिक्षित किया जाता है। इससे युवाओं को रोजगार के अवसर मिलते हैं और वे आत्मनिर्भर बन सकते हैं। ऐसे मॉडल को बड़े स्तर पर लागू करने से गरीबी के उन्मूलन में सकारात्मक योगदान मिल सकता है।

गरीबी उन्मूलन में निजी क्षेत्र, गैर-सरकारी संगठन, और नागरिक समाज की महत्त्वपूर्ण भूमिका हो सकती है। उदाहरण के लिए, टाटा ट्रस्ट जैसी संस्थाएँ शिक्षा, स्वास्थ्य और स्वच्छता के क्षेत्र में कई परियोजनाओं को समर्थन दे रही हैं, जो गरीबों को लाभान्वित करती हैं। बड़े उद्योग और कॉरपोरेट्स भी अपने कॉरपोरेट सोशल रिस्पॉन्सिबिलिटी (सी.एस.आर.) फण्ड का उपयोग करके गरीबी उन्मूलन में अपना योगदान दे सकते हैं। उदाहरण के तौर पर, कई आई.टी. कम्पनियाँ ग्रामीण क्षेत्रों में कौशल विकास केन्द्र चलाती हैं, जिससे युवाओं को रोजगार के अवसर प्राप्त होते हैं। समाज के विभिन्न घटकों के सामूहिक प्रयास से गरीबी के खिलाफ लड़ाई अधिक प्रभावी बन सकती है।

इस प्रकार, गरीबी उन्मूलन के लिए केवल सरकारी योजनाओं पर निर्भर रहने से वांछित परिणाम नहीं प्राप्त हो सकते। हमें जरूरत है एक ऐसी नीति की, जो दीर्घकालिक दृष्टिकोण के साथ सामाजिक, आर्थिक, और शैक्षणिक स्तर पर बदलाव लाने की कोशिश करे। इस दिशा में शासन की ईमानदारी, पारदर्शिता, और जवाबदेही भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है।

नये दृष्टिकोण से नयी नीतियाँ बनाकर, समाज के विभिन्न वर्गों को इस मिशन में शामिल करके, और राजनीतिक स्वार्थों से ऊपर उठकर ही गरीबी का वास्तविक उन्मूलन सम्भव हो सकता है। तब ही हम उस भारत की कल्पना कर सकते हैं, जहाँ हर नागरिक आत्मनिर्भर और सशक्त हो।

■

गरीबी मिटाने को लेकर कितनी गम्भीरता

बसन्त हेतमसरिया

गरीबी उन्मूलन दुनिया के सबसे महत्त्वपूर्ण मुद्दों में से एक है। संयुक्त राष्ट्र द्वारा 2015 में अपनाये गये 17 सतत् विकास लक्ष्यों में से पहला ही लक्ष्य 2030 तक गरीबी को समाप्त करने का आह्वान करता है। भारत अभी इस लक्ष्य से बहुत दूर है। आजादी के 75 वर्ष बाद भी गरीबी उन्मूलन हमारी सबसे बड़ी चुनौती बनी हुई है। यह सही है कि देश में गरीबी नयी नहीं है और न ही देश के राजनेताओं द्वारा इसे हटाने या मिटाने की बात आज से हो रही है, पर गरीबी है कि मिटती ही नहीं है।

लेखक सामाजिक कार्यकर्ता हैं।
+919934443337
bkhetamsaria@gmail.com

1951 की जनगणना के अनुसार भारत की जनसंख्या 36 करोड़ थी। 1947 में भारत की जी.डी.पी. रुपये 2.7 लाख करोड़ और प्रति व्यक्ति सालाना आय रुपये 265 थी। आज देश की जी.डी.पी. लगभग रुपये 295.4 लाख करोड़ और अनुमानित प्रति व्यक्ति सालाना औसत आय रुपये 2.29 लाख है। भारतीय अर्थव्यवस्था अभी दुनिया में पाँचवें स्थान पर है और तीसरे स्थान की ओर अग्रसर है, परन्तु प्रति व्यक्ति आय के मामले में भारत 200 देशों की सूची में 129वें स्थान पर है। वैश्विक भुखमरी सूचकांक (2024) में 127 देशों की सूची में हमारा 105वाँ स्थान देश में खाद्य असुरक्षा और कुपोषण को दर्शाता है, जिससे देश की गरीबी की गम्भीरता स्पष्ट हो जाती है। इसीलिए जब आर्थिक प्रगति की बात होती है तो देश की 145 करोड़ (अनुमानित) आबादी के योगदान से हमने जो जी.डी.पी. हासिल की है उसके आँकड़े और दुनिया में पाँचवीं अर्थव्यवस्था होने की बात तो देश की सरकार खूब ढोल बजाकर करती है पर प्रति व्यक्ति आय पर चुप्पी साधे रहती है। पर इसका जो एक सीधा निष्कर्ष निकलता है वह यह है कि देश तो अमीर हो रहा है, यहाँ धन पैदा हो रहा है, लेकिन लोग गरीब-के-गरीब ही हैं। देश की जी.डी.पी. के मुकाबले प्रति व्यक्ति आय का ऐसा हाल है कि उसे छुपाना ही बेहतर माना जाता है। फिर यह सवाल तो बनता है कि देश का धन कहाँ जा रहा है? दरअसल, देश के गरीब बने रहने का जवाब इसी सवाल के जवाब में छुपा हुआ है।

भारत में गरीबी को एक ऐसी स्थिति के रूप में परिभाषित किया जाता है जिसमें किसी व्यक्ति या परिवार के पास जीवन की बुनियादी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए वित्तीय संसाधनों की कमी होती है। आजादी के बाद से अब तक भारत में गरीबी का अनुमान लगाने के लिए छह आधिकारिक समितियाँ बनायी गयीं–योजना आयोग का कार्य समूह (1962), वी एम दाण्डेकर और एन रथ (1971), अलघ समिति (1979), लकड़वाला समिति (1993), तेन्दुलकर समिति (2005) और रंगराजन समिति (2014)। रंगराजन समिति की रिपोर्ट पर सरकार ने कोई संज्ञान नहीं लिया, इसलिए अब भी तेन्दुलकर गरीबी रेखा का उपयोग करके ही गरीबी को मापा जाता है। इसके अनुसार, भारत में गरीबी रेखा शहरी क्षेत्रों में प्रतिदिन मात्र रुपये 33 व्यय और ग्रामीण भारत में रुपये 27 व्यय के स्तर तय की गयी और इसके आधार पर मानते हैं कि 21.9 प्रतिशत (लगभग 30 करोड़) भारतीय गरीबी रेखा से नीचे रहते हैं।

गरीबी रेखा के लिए 2009 में तय किये

गये ये मापदण्ड आज न केवल बेहद अपर्याप्त हैं बल्कि हास्यास्पद लगते हैं। भारत की प्रति व्यक्ति औसत आय, जिसका आँकड़ा ऊपर दिया गया है, को हम देश के हर व्यक्ति की आय समझने की गलती न करें। यह कितनी भ्रामक है उसका पता इस तथ्य से चलता है कि गरीबी रेखा से नीचे जीवन बसर करने वाले करोड़ों लोगों की सालाना आय देश की औसत आय की पाँच प्रतिशत भी नहीं है। गरीबी रेखा और औसत आय के बीच इनके अलावा और करोड़ों लोग होंगे। यह अन्तर देश में चन्द लोगों के पास धन के बड़े हिस्से के संग्रहण की वजह से है। देश में बढ़ती यह आर्थिक असमानता गरीबी के खत्म होने के रास्ते में एक बड़ी रुकावट है।

अब हम वर्तमान केन्द्र सरकार के इस दावे कि प्रधानमन्त्री नरेन्द्र मोदी के 10 वर्षों के कार्यकाल में 25 करोड़ लोगों को गरीबी से बाहर निकाला गया है, पर भी एक नजर डाल लेते हैं। 2011 के बाद देश में जनगणना नहीं हुई है और जब हमारे पास कोई आधिकारिक डेटा उपलब्ध ही नहीं है तब भारत सरकार के गरीबी पर जारी इन आँकड़ों को प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। समाज विज्ञानी एस. सुब्रमण्यन के आकलन से तो सरकार के दावे का खण्डन होता है। उनके अनुसार, उपभोक्ता व्यय डेटा के लीक हुए संस्करण के आँकड़ों के आधार पर, भारत में गरीबी की दर 2011-12 और 2017-18 के बीच 31.15 प्रतिशत से बढ़कर 35.1 प्रतिशत हो गयी। इसी अवधि में, गरीब लोगों की कुल संख्या 270 मिलियन से बढ़कर 322.22 मिलियन हो गयी, जो छह वर्षों में 52 मिलियन की वृद्धि है। और बगैर आँकड़ों के भी यह अनुमान लगाना ज्यादा मुश्किल नहीं कि इसके बाद आयी कोविड महामारी के दौर में देश में गरीबों की संख्या में कमी नहीं, बढ़ोत्तरी ही हुई होगी। दूसरी तरफ अप्रैल 2020 से शुरू हुई प्रधानमन्त्री गरीब कल्याण अन्न योजना भी सरकारी दावे की पुष्टि नहीं करती, जिसके तहत सरकार देश के 80 करोड़ गरीबों को पाँच किलो मुफ्त अनाज मुहैया कराती है और 01 जुलाई, 2024 से इस योजना को अगले पाँच वर्षों, यानी 31 दिसम्बर 2028 तक और बढ़ा दिया है। यह समझना तो बहुत साधारण-सी बात है कि गरीबी घटती तो मुफ्त अनाज लेने वालों की संख्या में भी कमी की जाती, क्योंकि यह योजना गरीबों के लिए ही है।

इधर दुनिया में गरीबी तय करने का नजरिया बदला है। अब वैश्विक स्तर पर गरीबी की गणना सिर्फ आय के आधार पर नहीं होती। इसके लिए 2010 में आक्सफोर्ड गरीबी और मानव विकास पहल (ओ.पी.एच.आई.) और संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम (यू.एन.डी.पी.) द्वारा बहुआयामी गरीबी सूचकांक (एम.पी.आई.) विकसित किया गया जो गरीबी की घटना और इसकी तीव्रता की गणना करने के लिए स्वास्थ्य, शिक्षा और जीवन-स्तर जैसे संकेतकों का उपयोग करता है। इसके अन्तर्गत पोषण, शिशु व वयस्क मृत्युदर, मातृत्व स्वास्थ्य, स्कूली शिक्षा के वर्ष, स्कूल में उपस्थिति, खाना पकाने का ईंधन, स्वच्छता, पेयजल, आवास, बिजली, और सम्पत्ति जैसे पहलुओं पर ध्यान दिया जाता है। 2024 के लिए जारी बहुआयामी गरीबी सूचकांक के अनुसार पूरी दुनिया में 110 करोड़ लोग बहुआयामी गरीबी से जूझ रहे हैं, जिनमें से 23.4 करोड़ (21 फीसदी) लोग भारत में हैं। दरअसल, यह रिपोर्ट भी भारत में गरीबी का पूरा सच नहीं बताती क्योंकि भारत में ताजा आधिकारिक आँकड़े उपलब्ध ही नहीं हैं।

पर गरीबी की जो स्थिति दिख रही है वह भी बेहद गम्भीर है और इसके बावजूद भारत इसे मिटाने के लिए कोई सुनियोजित, समन्वित प्रयास करता नहीं दिखता। अब तो यह देखने में आ रहा है कि देश में केन्द्र और राज्य सरकारें सामाजिक सुरक्षा के नाम पर लाभार्थी को सीधे उसके खाते में किसी आकर्षक योजना या अन्य किसी बहाने ज्यादा-से-ज्यादा नकद राशि ट्रांसफर करने पर जोर दे रही हैं। पिछले एक दशक में जब से जनधन, आधार और मोबाइल की मदद से देश में सीधे धन हस्तान्तरण की सुविधा हुई है, यह रुझान उत्तरोत्तर बढ़ता ही जा रहा है। क्रियान्वयन की सुविधा के अलावा सत्तारूढ़ दल इसमें अपना लाभ देखते हैं, क्योंकि लाभार्थी को दी गयी राशि को वो चुनाव में अपनी पार्टी के लिए वोट माँगने में भुनाते हैं। सरकारों को यह समझना होगा कि नकदी देकर गरीबों की मदद देने की यह व्यवस्था स्थायी रूप से नहीं चलायी जा सकती है। हाँ, इसके अलावा खाद्य सुरक्षा, आवास वगैरह के क्षेत्र में भी काम हो रहे हैं, पर वे पर्याप्त नहीं हैं। हमें समझना होगा कि राजनीतिक लाभ को ध्यान में रखकर गरीबी हटाने के नाम पर लिये जा रहे ऐसे एकांगी कदम हमें हमेशा के लिए गरीबी समाप्त करने के लक्ष्य तक नहीं ले जाएँगे। लाचार, असहाय व्यक्तियों को सामाजिक सुरक्षा के तहत आर्थिक सहायता जरूर मिले, पर अन्य लोगों की गरीबी मिटाने के लिए तो वही उपाय कारगर होंगे जिनसे उनकी आय में स्थायी वृद्धि होगी।

दुनिया के अनेक देशों ने अपने यहाँ से गरीबी को खत्म किया है। हमें उनके आजमाए हुए सभी सफल उपायों पर काम करने की जरूरत है। कई बार साधारण से दिखने वाले कदम भी बड़ा फर्क ले आते हैं, जैसे अफ्रीका के युगाण्डा और तंजानिया एवं श्रीलंका में सैकड़ों घरों पर किये गये प्रयोगों से यह बात सामने आयी कि एक गरीब परिवार के पास सिर्फ एक साइकिल हो तो उसकी आय में 35 प्रतिशत तक की बढ़ोत्तरी हो सकती है। यह उदाहरण इस तथ्य को उजागर करता है कि हमारे विविधतापूर्ण विशाल देश में गरीबी खत्म करने के लिए विभिन्न समुदायों की जरूरतों के अनुरूप अभिनव तरीकों को ढूँढ़ना और उन पर अमल करना होगा।

यह बात तो स्पष्ट है कि अब गरीबी उन्मूलन की प्रक्रिया बहु-आयामी है। आज गरीबी उन्मूलन के प्रयास कारगर होने के लिए आय वृद्धि के साथ पोषण, शिक्षा, स्वास्थ्य, स्वच्छता और रोजगार की उपलब्धता में भी सुधार करना होगा। गरीबी का एक बड़ा कारण असमानता है। इसलिए, सभी समूहों को निर्णय लेने की प्रक्रिया में शामिल करना होगा। गरीबी समाप्त करने के लिए लैंगिक समानता को बढ़ावा देना और महिलाओं को सशक्त बनाना भी जरूरी है।

■

...और गरीब बढ़ते गये

अनिल चमड़िया

गरीब और गरीबी भारतीय राजनीति का केन्द्रीय शब्द है। इन शब्दों का इस्तेमाल करोड़ों और अरबों की संख्या में किये जाने का अनुमान लगाया जा सकता है। ये सर्वाधिक खर्च किये जाने वाले शब्द हैं। यही वे शब्द हैं जो कि संसदीय लोकतन्त्र और गैर-संसदीय मंचों पर समस्त विषय के आधार बने रहे हैं। लेकिन अमीर और अमीर होते गये हैं और गरीबों की आबादी तेजी से बढ़ी है।

लेखक मीडिया शोध पत्रिका 'जन मीडिया' हिन्दी और 'मास मीडिया' अँग्रेजी के सम्पादक हैं।
+919868456745
namwale@gmail.com

इस देश में गरीबी उतनी ही तेजी से बढ़ती जा रही है, जितनी तेजी से अमीरी बढ़ रही है। 2023 में एक जाँच-पड़ताल के बाद यह हालत सामने आयी कि भारत के एक सौ अरबपतियों की सम्पत्ति 54.12 लाख करोड़ रुपये है। उनके पास इतना पैसा है कि वह भारत सरकार के डेढ़ साल के बजट से भी ज्यादा है। देश में जितनी कमाई होती है, उसका 40 प्रतिशत सिर्फ 1 प्रतिशत लोग हजम कर जाते हैं जबकि 50 प्रतिशत लोगों को उसका 3 प्रतिशत हिस्सा ही हाथ लगता है। देश के 70 करोड़ लोगों की कुल सम्पत्ति देश के सिर्फ 21 अरबपतियों से भी कम है।

राजनीति के लिए गरीबी

गरीबी और गरीबों के हालात के बढ़ने के कारणों को समझने में आँकड़े इस रूप में उलझा देते हैं कि उसके बनाये रखने की राजनीति और विचार दब जाते हैं। जैसे मान लें कि हम गरीबी और गरीब के कारणों के रूप में यह देखें कि देश की आबादी के किस हिस्से पर कितना टैक्स लगता है। तो उसके आँकड़े कई तरह से प्रस्तुत किये जा सकते हैं। जैसे देश के 50 प्रतिशत लोग, जो कि गरीबी के रास्ते पर खड़े होते हैं, सरकार के टैक्स जीएसटी का कुल 64 प्रतिशत हिस्सा वसूलती है। दूसरी तरफ 10 प्रतिशत मालदार लोग तीन प्रतिशत ही टैक्स देते हैं। इस तरह से यह आँकड़ा एक राजनीति के लिए जगह बना देता है कि सरकार अमीरों पर ज्यादा टैक्स लगाये। दरअसल गरीबी और गरीब के प्रश्न को किस नजरिये से उठाया जाता है, यह महत्त्वपूर्ण हो जाता है।

राजनीति की कामयाबी का डंका

गरीबी के खिलाफ का जिस नजरिये से सत्ता के लिए राजनीति में जगह बनती है, उससे ही यह निश्चित होता है कि गरीबी कम होगी या गरीबों और अमीरों के बीच ही खाई नहीं बढ़ेगी बल्कि गरीबों के बीच यानी गरीब और अति गरीबों की एक नयी खाई खड़ी होगी। कैसे बदलता है सत्ता और राजनीति का गरीबी के प्रति नजरिया, इसे इस तरह से देखें। 25 फरवरी, 1964 को योजना आयोग के उपाध्यक्ष पी.सी. मोहालनॉबिस ने अँग्रेजों के जाने के बाद देश द्वारा की गयी आमदनी किस तरह के लोगों के घरों में पहुँची वे स्पष्ट करते हैं। इसमें दो बातें सामने आयीं। पहला कि आमदनी कुछ खास लोगों तक सिमट रही है और दूसरी तरफ श्रमिकों की मजदूरी कम हो रही है। उनके अध्ययन में कहीं से भी यह संकेत नहीं मिल रहा था कि गैर-बराबरी को खत्म करने की कोशिश थोड़ी-बहुत भी आगे बढ़ सकी है बल्कि जिन लोगों को आमदनी हो रही थी और जिनके पास आर्थिक स्रोत थे उनकी ही लूट जारी है। 2007 में अर्जुन सेन गुप्ता कमेटी ने असंगठित क्षेत्र का अध्ययन करने के बाद बताया कि 76 प्रतिशत से ज्यादा आबादी बीस रुपये से भी कम पर रोजाना गुजारा कर रही है। यानी तब बीस रुपये से लेकर 1 रुपये तक की कमाई के बीच गरीबों की इतनी बड़ी आबादी बढ़ गयी थी। असंगठित क्षेत्र में श्रमिकों यानी मजदूरी करने वालों की कुल संख्या का 98 प्रतिशत हिस्सा है।

गैर-बराबरी के खिलाफ राजनीति सिमटती गयी

सत्ता और उसके लिए राजनीति में बढ़ती गैर-बराबरी के खिलाफ न केवल आवाज कम होती गयी बल्कि सत्ता और राजनीति से गरीबी को खत्म करने का अधिकार भी बेदखल हो चुका है। इसका अर्थ यह होता है कि सत्ता और उसके लिए राजनीति में ऊपर-ऊपर गरीब का चेहरा और गरीबी की बात होती रही और अन्दर खाने में अमीरी की राजनीति मजबूत होती गयी है। बढ़ती गरीबी पर चिन्ता करने वाला एक समूह बढ़ता गया। वह सत्ता के लिए सत्ता की राजनीति की आलोचना के एक विषय के रूप में इस्तेमाल होता रहा है। गरीबी के खिलाफ राजनीति संगठित नहीं हुई है और ना ही गरीबी के खिलाफ राजनीति

को लेकर एक नजरिया उनके बीच स्पष्ट किया गया है जो लगातार गरीबी के कारणों के जाल में फँसते चले गये हैं। बल्कि अमीरी के औजार के रूप में इस्तेमाल हुए हैं।

राजनीति कहाँ पहुँची है

मुफ्त राशन को सरकार और राजनीति अपनी उपलब्धि के तौर पर पेश करती है। देश के प्रधानमन्त्री 134 करोड़ की आबादी में अस्सी करोड़ लोगों को मुफ्त राशन व सस्ते राशन पहुँचाने को अपनी बड़ी कामयाबी के रूप में पेश करते हैं। 2019 में चुनावी कामयाबी के बाद प्रधानमन्त्री नरेन्द्र मोदी ने भाजपा के विशाल मुख्यालय में अपने समर्थकों के बीच खुशियाँ मनाते हुए यह कहा कि ''भारत की जनता ने एक नया नैरेटिव (नजरिया) सामने रख दिया है। सारे समाजशास्त्रियों को पुरानी सोच पर विचार करने के लिए मजबूर कर दिया है। वह नैरेटिव यह है कि देश में अब सिर्फ दो जातियाँ बचेंगी। ये जाति के नाम पर खेल खेलने वाले लोगों पर बहुत बड़ा प्रहार हुआ है। ये दो जातियाँ हैं–गरीब और दूसरी जाति है–देश को गरीबी से मुक्त करने के लिए अपना योगदान देने वालों की। एक वे हैं जो गरीबी से बाहर आना चाहते हैं, दूसरे वे हैं जो देश को गरीबी से मुक्त कराना चाहते हैं।''

प्रधानमन्त्री के लम्बे भाषण के इस अंश में यह देखा जा सकता है कि वह गरीबी से मुक्त करने के लिए अपना योगदान देने वालों को एक जाति के रूप में स्थापित कर रहे हैं। वे कौन हैं। अमीर और अमीरी के लिए राजनीति पर वर्चस्व रखने वाला छोटा-सा समूह है। यह स्पष्ट है कि वे अपनी राजनीति की अगुवाई करने वाले समूह को ही गरीबों के हितैषी और कल्याण करने वाले के रूप में स्थापित कर रहे हैं। भारत की ससंदीय राजनीति में पार्टियों का रुझान समानता यानी समाजवादी विचारधारा के प्रति रहा है। यहाँ बराबरी के हालात विकसित करने पर जोर दिये जाते रहे हैं। उसके लिए केवल एक शब्द है–अधिकार। इसे हासिल करने का अधिकार। कल्याणकारी राज्य के सिद्धान्त पर सरकार पर उन वर्गों के सहयोग के लिए प्रतिबद्धता जाहिर करने का दबाव रहा है जो कि अपेक्षाकृत बदतर सामाजिक-आर्थिक हालात के शिकार रहे हैं। लेकिन अब सरकार को चलाने वाला नेतृत्व डंके की चोट पर अमीरों को गरीबों का हितैषी बता रहा है। जबकि सरकार में आने के लिए भारतीय जनता पार्टी ने अपनी राजनीति की शुरुआत का ऐलान गाँधीवादी समाजवाद से किया था जबकि राजनीतिक विचारधारा पूँजीवाद समर्थक रही है।

गरीबी के खिलाफ सरकार के कार्यक्रम नहीं होते

यह एक भ्रम है कि सरकार द्वारा चलाये जाने वाले कार्य्रक्रम गरीबी के खिलाफ होते हैं। बल्कि एक हद तक यह कहा जा सकता है कि गरीबों के भूखे मरने के हालात की जबावदेही से बचने के लिए कार्यक्रम चलाती है। मसलन 2024 के चुनाव के पूर्व 1 जनवरी, 2023 से एक नयी एकीकृत खाद्य सुरक्षा योजना का नाम प्रधानमन्त्री गरीब कल्याण अन्न योजना (पी.एम.जी.के.ए.वाई.) किया गया। यह दावा किया गया कि इस योजना के जरिये देश के 80 करोड़ से अधिक गरीब और अत्यन्त गरीब लोगों को लाभ मिल सकेगा। दरअसल गरीबी के खिलाफ राजनीति एवं उसके उलट सत्ता और उसकी राजनीति के द्वारा गरीबी और गरीब का इस्तेमाल को उनके अन्तर्विरोधी बातों को ही ध्यान में रखकर समझा जा सकता है। मसलन सरकार बराबरी के हालात पैदा करने की नीतियों पर जोर नहीं देना चाहती है बल्कि गरीबों की निर्भरता गरीबी को मुक्त करने वालों पर बनी रहे। सरकार मुफ्त में राशन पहुँचाने का दावा विज्ञापनों के जरिये भी करती है लेकिन सबसे ज्यादा शिकायतें ये सामने आती हैं कि मनरेगा को निष्क्रिय करने की लगातार कोशिश हो रही है।

गरीबी के खिलाफ कार्यक्रम मापने का नजरिया

पहली बात तो नीतियों और कार्यक्रमों में बुनियादी फर्क होता है। अमीरी के प्रति झुकाव रखने वाले नीतियों को जारी रखने के लिए गरीबों के हित में दिखने वाले कार्यक्रम चलाये जा सकते हैं। देश में अब तक गरीबों के कल्याण व हितों के नाम पर ही कार्यक्रम चलते रहे हैं। लेकिन अमीरी की नीति मजबूत होती चली गयी है। इस तरह हम देखते हैं कि गरीबी के खिलाफ नीति और गरीबों के भूखमरी के हालात को कम करने के कार्यक्रमों में बुनियादी फर्क होता है। गरीबी के खिलाफ कार्यक्रमों के मापने का एक ही आधार होता है कि वह सशक्त यानी अपने हालात को मजबूत करने की तरफ बढ़ रहा है और सरकार उसके साथ खड़ी है। हालात के मजबूत होने का अर्थ हर स्तर पर मजबूत होना है। गरीबी के लिए नीति केवल आर्थिक स्तर ही नहीं बनती है बल्कि वह चौतरफा होती है। मसलन गरीबी आर्थिक स्तर पर बढ़ती है तो वह लोकतान्त्रिक अधिकारों को लेकर किस रूप में बढ़ती है। गरीबी की नीति के जारी होने का अर्थ हर मायने में श्रमिकों व श्रम आधारित समाज को क्रमशः कमजोर करना है। राजनीतिक अधिकार सबसे ज्यादा निशाने पर होता है क्योंकि वह अधिकार ही गरीबी के खिलाफ लड़ने की चेतना का स्रोत बना रहता है। समानता का विचार एक अधिकार के रूप में जीवित रहता है। हालात पर नजर डालें तो यह स्पष्ट होगा कि गरीबी की नीति मजबूत हुई है नतीजे में गरीबों की आबादी विशाल हुई है तो दूसरी तरफ नीतियाँ बनाने वाली संस्थाओं में प्रमुख संसद में करोड़पतियों-अरबपतियों की संख्या लगातार बढ़ी है। गरीबी के हालात में पहुँची आबादी नीतियाँ बनाने वाली संस्थाओं के लिए चुनाव के योग्य इस रूप में नहीं रह गयी है क्योंकि चुनाव महँगे कर दिये गये। जिनके पास ज्यादा-से-ज्यादा संसाधन है वही चुनाव के योग्य माने जाते हैं। गरीबी के खिलाफ नीतियों का मापक आर्थिक स्तर पर समानता की दिशा में बढ़ने की चेतना का समर्थन ही हो सकता है। यह बिल्कुल स्वाभाविक स्थिति होती है कि अमीर दान-पुण्य में यकीन करता है और अपने आयोजनों की भव्यता पर जोर देता है। चुनाव की भव्यता पर जोर और गरीबी के लिए दान-पुण्य एक नये तरह की अन्तर्विरोधी स्थितियों को सामने लाते हैं। मतदाता गरीबी के हालात में दान-पुण्य की भावना से मतदान की पंक्ति में खड़ा होता है तो वह बराबरी के लिए नीतियाँ तैयार करने वाली राजनीति के दायरे से बाहर हो चुका है और उसका कोई दबाव किसी राजनीतिक पार्टी पर नहीं रह गया है।

■

नेकनीयत और स्पष्ट नीति की जरूरत

घनश्याम

गरीबी आकाश से टपकी हुई समस्या नहीं, यह एक आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक मामला है। इसका सीधा सम्बन्ध प्राकृतिक उपादानों पर नियन्त्रण, श्रम का शोषण और उपभोग में विषमता से जुड़ा है। यानी शोषण, विषमता और अन्याय की पद्धति से सीधा जुड़ा यह मानव और मानव द्वारा निर्मित व्यवस्थाजन्य समस्या है। इसके इलाज के पहले इसकी जड़ों की तह में जाकर इसे नहीं समझा गया और जैसे-तैसे इलाज का प्रयास किया गया। परिणामतः यह मर्ज बढ़ता गया।

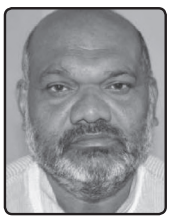

लेखक सामाजिक कार्यकर्ता और 'जुड़ाव' के प्रमुख हैं।
+919431101974
judav_jharkhand@yahoo.com

गरीबी उन्मूलन एक वैश्विक मुद्दा है। अगर दुनिया के स्तर पर इसे समझने की कोशिश करें तो 'सहस्राब्दि विकास लक्ष्य' (एम.डी.जी.) का मूल बिन्दु गरीबी उन्मूलन था। तीसरी सहस्राब्दि की शुरुआत यानी 2001 में यू.एन. ने इसे एक चुनौती के तौर पर लिया था। और गरीबी उन्मूलन प्रमुख लक्ष्य रखा गया था 2015! लेकिन यह पूरा होता नहीं देख यू.एन. ने फिर 2015 में एक अलग लक्ष्य (2016-2030) की घोषणा की।

इसका नामकरण किया गया–'सस्टेनेबल डेवलपमेण्ट गोल' यानी 'टिकाऊ विकास लक्ष्य'। इसका भी पहला लक्ष्य है दुनिया से गरीबी उन्मूलन। अब मात्र इसके पाँच साल बचे हैं पर दुनिया में गरीबी उन्मूलन की बात तो दूर, गरीबी घटने का नाम तक नहीं ले रही। यहाँ गरीबी उन्मूलन के लिए काम कर रहे लोगों और जमातों को गम्भीरतापूर्वक यह सोचना चाहिए कि तमाम प्रयासों के बावजूद दुनिया-भर से गरीबी का उन्मूलन क्यों नहीं हो पा रहा है? क्यों इसका स्वरूप और वीभत्स होता जा रहा है?

पूँजी का केन्द्रीकरण श्रम के शोषण तथा जीवनोपयोगी संसाधनों के वितरण और विनिमय की अनियमितता से पैदा हुई है गरीबी! जिसके गर्भ से उपजा पूँजीवाद! पूँजीवाद ने जहाँ एक तरफ द्रुतगति से प्रकृति और प्रकृति प्रदत्त उपादानों (जो पूँजीवाद की भाषा में अब संसाधन कहा जाने लगा) का बेतहाशा दोहन किया। वहीं इस दोहन के लिए मनुष्यों की बड़ी आबादी को गुलाम बनाया। इन गुलामों को न तो काम का वाजिब दाम दिया गया और न सन्तुलित भोजन। परिणामतः गुलामों में ऊर्जा का ह्रास होता चला गया, फलतः शारीरिक और मानसिक दृष्टि से गुलाम क्षीणतर और मन्दबुद्धि वाला बनता चला गया। इन्हीं गुलामों के बहुत बड़े वर्ग को भारतीय सन्दर्भ में दलित और वंचितों की श्रेणी में धकेल दिया गया। जिन्हें एक कालक्रम में जाकर वर्ग, वर्ण और अछूत जातियों का समुदाय कहा जाने लगा। जमीन और जंगल को साफ-सुथरा कर जिनने इसे रहवास और उपजाऊ लायक बनाया, उनके हाथ से जमीन और जंगल छीन लिए गये और धूर्त लोग उस पर कब्जा जमाते चले गये।

यहाँ से प्रारम्भ हुई विषमता, ऊँच-नीच और भुखमरी। जहाँ से बाद के दिनों में गरीबी और अमीरी की परिभाषा गढ़ी गयी।

गरीबी आज के अर्थशास्त्र और राजनीतिकशास्त्र का एक ऐसा शब्द है जिसके बल पर अर्थ-व्यवस्था और राजनीतिक-व्यवस्था पनप रही है। दोनों एक सिक्के के दो पहलू हैं। इसका बारीकी से विश्लेषण करें तो यह बात साफ तौर पर दिखेगी कि गरीबी

उन्मूलन के जितने प्रयास और प्रयोग हुए हैं उनकी न तो नीतियाँ सही हैं और न नीयत ठीक है। बस, सब कुछ नियति पर छोड़ देने का प्रहसन चल रहा है।

यही नियति का प्रहसन वंचित वर्गों को अभिवंचित बना रहा है और गरीबी उन्मूलन का सारा अभिक्रम विफल हो रहा है।

गरीबों के सम्मान के साथ सरे आम खिलवाड़ हो रहा है और कहा जा रहा है कि करोडों गरीबों को गरीबी रेखा से ऊपर लाने के लिए यह पहल की जा रही है। ये सारे कदम गरीबी उन्मूलन के हैं। एक तरफ अनाज बाँटने का प्रहसन करना तो दूसरी तरफ उसे बाँटते हुए यह कहना कि यह सरकार का गरीबों पर एहसान है। इससे बड़ा मजाक और क्या हो सकता है? इतना ही नहीं चुनावों के समय यह बतलाना और जतलाना कि हमारी सरकार ने गरीबों/वोटरों पर कृपा की है। दूसरी सरकार ऐसा नहीं कर सकती। यानी अगर सरकार ऐसा करती भी है तो यह उनका लोक-कल्याणकारी राज्य होने के नाते सरकार का ऐसा करना फर्ज है न कि एहसान। दुनिया में हरेक कल्याणकारी राज्य अपने फर्ज निभाने के तहत राज्य ऐसा करता रहा है। यानी फर्ज निभाता रहा है। नागरिकों का यह लोकतान्त्रिक तथा संवैधानिक अधिकार है जिसे समय-समय पर नागरिक समूह उठाता रहा है। इसी अधिकार के तहत अपने देश के लोग भी 90 दशक से लेकर 20वीं सदी के अन्त तक अपना फर्ज निभाते रहे तथा अभियान और आन्दोलन चलाते रहे। परिणामस्वरूप इक्कीसवीं सदी के प्रारम्भ में सरकार को विवश होकर 'खाद्य सुरक्षा कानून' बनाना पड़ा।

यह यूपीए सरकार की एक उपलब्धि के रूप में गिना गया। लेकिन सच कहें तो यह संघर्षशील जनता के अथक और सतत् चलाये जाने वाले आन्दोलन समूहों की सामूहिक उपलब्धि थी न कि किसी सरकार की भलमनसाहत या एहसान!

कोई भी सरकार जब किसी कल्याणकारी योजना को अपनी उपलब्धि बताकर वोटरों को अपनी ओर आकर्षित करने का अर्थ होता है जनता के नागरिक अधिकार का हनन करना और संवैधानिक अधिकार को नकारना। यह एक गैर-लोकतान्त्रिक चिन्तन से उपजी हुई संविधान विरोधी सोच है। बात यहीं तक रुक जाती तो सजग जमातों को सोच के खिलाफ संघर्ष खड़ा करना उतना कठिन नहीं होता। आश्चर्य की बात तो यह है कि अब हरेक योजनाओं, परियोजनाओं और कार्यक्रमों को इसी 'एहसानमन्द फ्रेम' में ढालकर ढिढोरा पीटने का क्रम चल चुका है। केन्द्र सरकार के नक्शेकदम पर चलते हुए अन्य राज्यों की सरकारें भी इसी का अनुकरण और अनुशरण करती रही हैं।

यह एक खतरनाक सोच है और लोकतन्त्र के रास्ते व्यक्तिवादिता को बढ़ाने और धीरे-धीरे इसे 'मीठी तानाशाही' की ओर ले जाने का एक सूक्ष्म प्रयास है। यह ऐसी मीठी तानाशाही है जिसमें लोगों को धीरे-धीरे निकम्मा बना देने का और उसके आत्मबल को तोड़ने का अति-सूक्ष्म कदम है।

इसे समझने के लिए उदाहरण के तौर पर हम यहाँ एक गाँव का उदाहरण सामने रखना चाहते हैं। लालपुर-मधुपुर प्रखण्ड (झारखण्ड) का एक गाँव है। यह मिश्रित आबादीवाला गाँव है। जहाँ लोगों ने अपनी मेहनत और अभिक्रम के बल पर अपने गाँव को भोजन के मामले में स्वावलम्बी बना लिया। गाँव को उस स्वावलम्बन की दिशा में बढ़ाने के काम में एक स्वैच्छिक संस्था ने पहल की और गाँव के एक किनारे बहते जलस्रोत को बाँधकर और उसके किनारे एक 20 फुट के व्यास का कुआँ बनवाया। बहते पानी को संग्रहित कर पानी खेतों तक पहुँचाया गया और गाँव के सभी किसानों ने जी-जान से मेहनत की। परिणामतः तीन-चार साल में गाँव के लगभग 55 परिवार के किसान अनाज के मामले में आत्मनिर्भर हो गये। निश्चित तौर इसमें जितना योगदान पुरुषों का था उससे कहीं अधिक योगदान वहाँ की महिलाओं का था। दो-तीन फसल गाँव के लगभग सभी किसान लेने लगे और यहाँ के अधिकांश पलायन के शिकार युवा गाँव खेती-किसानी में लग गये। हाँ, कुछ ऐच्छिक पलायन आज भी जारी है। लेकिन पहले के मुकाबले पलायन काफी कम हुआ है। तीन फसल लेने के कारण यहाँ के किसान आर्थिक दृष्टि से अपेक्षाकृत मजबूत हुए हैं। इसकी कहानी यहाँ की महिला-पुरुष से सुनी जा सकती है।

लेकिन जब से कम दाम पर या मुफ्त राशन बाँटने की प्रक्रिया की शुरुआत हुई तब से कुछ वर्ष के अन्दर लालपुर गाँव के लोगों ने गेहूँ जैसी महत्त्वपूर्ण फसल उगाना बन्द कर दिया। पूछने पर गाँव के किसान दो बातें बड़े साफ शब्दों में कहते हैं–''पहला यह कि जब सरकार सस्ते दर पर गेहूँ उपलब्ध करा रही है तब फिर गेहूँ की महँगी खेती करने का क्या औचित्य है? दूसरी बात यह कि आज गेहूँ उपजाने का अर्थ है बाजार के हाथ में अपने को गिरवी रखना तथा अपनी उर्वरा जमीन में रासायनिक खाद डालकर इसे नशाबाज बना देना है।'' कितनी मार्मिक और सुलझी हुई बातें किसान करने लगे हैं।

उनकी बातों के निहितार्थ को समझने की जरूरत है आज के नीति नियन्ताओं को। नीतियाँ जब एकाकी और थोपी हुई होंगी तो उसका दुष्प्रभाव और दुष्परिणाम ऐसा ही होगा। प्रकृति और पर्यावरण प्रदूषित होंगे और लोग-बाग निकम्मे। और धीरे-धीरे यही इसकी नियति बन जाएगी।

इसका दीर्घकालिक परिणाम यह निकलेगा कि गाँव के कुछ चालाक लोग भले समृद्ध हो जाएँगे पर अधिकांश परिवार के लोग फिर गरीबी के गुंजलक में फँसते चले जाएँगे। गरीबी के इस गुंजलक को समझना बहुत जरूरी है, नहीं तो गरीबी उन्मूलन महज एक खोखला नारा बनकर रह जाएगा। दुनिया के अधिकांश गरीब देशों में ऐसा होता आ रहा है। खासकर अफ्रीका, लैटिन अमेरिका और एशिया के गरीब देशों में ऐसा देखा जा रहा है।

यह अच्छी बात है कि यू.एन. ने सहस्राब्दि लक्ष्य के तहत टिकाऊ विकास का लक्ष्य तय किया है लेकिन यहाँ यह भी समझने की जरूरत है कि कोई भी टिकाऊ विकास अपने-आप तभी आगे बढ़ सकता है जब उसका सम्बन्ध अन्य निर्णयों से जुड़ता है तथा नियन्ताओं की नीति और नीयत साफ होती है। गरीबी उन्मूलन को इस दिशा में निश्छल मन से आगे ले जाने की जरूरत है।

■

लोकतन्त्र और कथित रेवड़ी संस्कृति

प्रमोद मीणा

आवरण कथा

जिन घोषणाओं और योजनाओं को रेवड़ी संस्कृति कहकर प्रधानमन्त्री और उनकी पार्टी के लोग विपक्षी दलों और विपक्षी सरकारों की आलोचना करते हैं, उन मुफ्त के उपहारों की कोई स्वीकृत और सुस्पष्ट परिभाषा तक हमारे सामने आज तक नहीं है। एक मत के अनुसार मुफ्त बिजली, मुफ्त पानी, मुफ्त सार्वजनिक परिवहन, विभिन्न प्रकार की घरेलू सेवाओं के मासिक बिलों की माफी और किसानों के कर्जों की माफी इनके अन्तर्गत आती है। एक मत पुरानी पेंशन की बहाली को भी इनमें जोड़ देता है।

प्रधानमन्त्री श्री नरेन्द्र मोदी ने 16 जुलाई, 2022 को उत्तरप्रदेश के जालौन में फोर-लेन बुन्देलखण्ड एक्सप्रेस-वे के उद्घाटन के अवसर पर बिना किसी विपक्षी दल का नाम लिये विपक्ष के ऊपर जिस कथित रेवड़ी संस्कृति द्वारा सस्ती लोकप्रियता हासिल करने और चुनाव जीतने का आरोप लगाया था, उसे लेकर जो बहस शुरू हुई वह थमने का नाम नहीं ले रही है। अभी हाल ही में विगत 15 अक्टूबर को सर्वोच्च अदालत ने चुनावी अभियान के दौरान राजनीतिक दलों द्वारा मतदाताओं को लुभाने के लिए तमाम तरह की मुफ्तवाली चीजों, सेवाओं और अनुदानों आदि की जो घोषणाएँ की जाती हैं, उन पर रोक लगाने सम्बन्धी एक याचिका की सुनवाई करते हुए केन्द्र सरकार और चुनाव आयोग को इस सन्दर्भ में अपना पक्ष रखने के लिए नोटिस जारी किये हैं। बेंगलुरु निवासी शशांक जे. श्रीधर की इस याचिका से पूर्व भी इस तरह की कई याचिकाएँ अदालतों के सामने आ चुकी हैं और सर्वोच्च अदालत ने इस नयी याचिका को भी पूर्व की याचिकाओं के साथ नत्थी कर दिया है।

प्रधानमन्त्री मोदी ने एकाधिक बार मुफ्त की घोषणाओं के लिए विपक्षी दलों को निशाने पर लेते हुए ऐसी योजनाओं को देश के विकास के लिए अवरोधक बताया है। प्रधानमन्त्री द्वारा उठाये गये इस मुद्दे को लेकर भाजपा प्रवक्ता और वरिष्ठ अधिवक्ता अश्विनी कुमार उपाध्याय ने एक जनहित याचिका भी सर्वोच्च अदालत में दाखिल की थी और 8 अगस्त, 2022 को अदालत ने इस पर सुनवाई करते हुए इस मसले पर निष्पक्ष रूप से विचार करने के लिए एक समिति गठित करने का सुझाव दिया था जिसमें वित्त आयोग, नीति आयोग, भारतीय रिजर्व बैंक और राजनीतिक दलों के प्रतिनिधियों को शामिल किया जाना था। याचिकाकर्ता का अनुरोध था कि अदालत चुनाव आयोग को चुनाव चिह्न आदेश 1968 में एक शर्त जोड़ने का निर्देश दे जिसके तहत चुनाव से पहले सार्वजनिक वित्त से गैर-तार्किक चीजों और सेवाओं आदि के मुफ्त वितरण या इस प्रकार की घोषणाओं पर रोक लगायी जा सके और ऐसा करने वाले राजनीतिक दलों की मान्यता खत्म की जा सके।

उपाध्याय की इस जनहित याचिका के सन्दर्भ में अदालत के सामने दो जटिल सवाल उठे थे। पहला सवाल था कि क्या सर्वोच्च अदालत वस्तुओं और सेवाओं आदि के मुफ्त वितरणवाली ऐसी घोषणाओं के क्रियान्वयन के लिए सार्वजनिक वित्त के इस्तेमाल को लेकर कोई दिशा-निर्देश दे भी सकती है या नहीं? वास्तव में इस प्रकार का कानून बनाना अदालत के दायरे से बाहर का विषय है क्योंकि यह व्यवस्थापिका के दायरे में

लेखक भाषा एवं सामाजिक विज्ञान संकाय, तेजपुर विश्वविद्यालय में हिन्दी के प्रोफेसर हैं।
+917320920958
pramod.pu.raj@gmail.com

आता है। दूसरा सवाल था कि किस प्रकार की लोकलुभावनी योजनाओं और घोषणाओं को कथित रेवड़ी संस्कृति का हिस्सा माना जाये?

ध्यातव्य है कि इस दूसरे आयाम को लेकर आम आदमी पार्टी (आप) ने उपाध्याय की जनहित याचिका के खिलाफ अदालत में एक याचिका भी दाखिल की थी। अपनी याचिका में आप ने उपाध्याय की जनहित याचिका को विपक्षी दलों की जनहितकारी योजनाओं के खिलाफ भाजपा का राजनीतिक एजेण्डा बताते हुए आधारभूत सुविधाओं और सेवाओं को कथित मुफ्त की रेवड़ी कहे जाने का विरोध किया था। पानी, बिजली और सार्वजनिक परिवहन आदि को आम आदमी के लिए आधारभूत बताते हुए आप ने भारतीय समाज में अमीर और गरीब के बीच की बढ़ती खाई के मद्देनजर सभी के लिए इनकी उपलब्धता सुनिश्चित करने पर जोर दिया था।

मुफ्त बिजली, मुफ्त पानी, मुफ्त सार्वजनिक परिवहन, बकाया मासिक घरेलू बिलों की माफी, कृषि ऋण आदि की माफी को भारतीय अर्थव्यवस्था पर भारी बोझ बताते हुए भारतीय रिजर्व बैंक ने भी जून 2022 के अपने बुलेटिन में इस तरह की मुफ्त योजनाओं को वित्तीय आपदा बताते हुए राजकोषीय स्थिरता के लिए गम्भीर खतरा बताया था। रिजर्व बैंक ने इस सन्दर्भ में चुनिन्दा भारतीय राज्यों की आर्थिक बदहाली की तुलना श्रीलंका के वित्तीय संकट से करते हुए राजकोषीय घाटे की अपरिहार्यता को लेकर चेतावनी दी थी किन्तु रिजर्व बैंक की इस रिपोर्ट के पीछे की राजनीति और अर्थव्यवस्था को लेकर इस रिपोर्ट में निहित अवधारणापरक और प्रणालीगत खामियों को कई अर्थशास्त्रियों ने उसी वक्त रेखांकित कर दिया था। उदाहरण के लिए, श्रीलंका में असमानताओं के संस्थानीकरण और आर्थिक संकट के गहराने के पीछे निहित नवउदारवादी आर्थिक नीतियों की भूमिका पर रिजर्व बैंक का मुँह न खोलना समस्याजनक था। कोविड महामारी के तुरन्त बाद कुछ चुनिन्दा राज्यों के कर्ज-भार को केन्द्र में रखकर इसके लिए पूरी तरह उन राज्यों की लोकहितकारी मुफ्त वितरण की योजनाओं को दोषी ठहराना भी रिजर्व बैंक की मंशा को लेकर सन्देह पैदा करने वाला था। कारण कि हम सब जानते हैं कि कोविड महामारी के दौरान राज्यों की आमदनी घट गयी थी और स्वास्थ्य आदि सेवाओं पर व्यय बढ़ गये थे। रिजर्व बैंक ने सबसे ज्यादा आर्थिक भार बिहार के ऊपर दिखाया था। रिजर्व बैंक की रिपोर्ट के अनुसार साइकिल आदि के मुफ्त वितरण जैसी योजनाओं के चलते बिहार का राजकोषीय घाटा इस राज्य के सकल घरेलू उत्पाद का 8.3 प्रतिशत तक था। इस राज्य के कर राजस्व की आमदनी के कितने हिस्से को मुफ्त वितरण की योजनाओं पर व्यय किया गया था, इसे लेकर एक ही वित्तीय वर्ष (2022-23) के सन्दर्भ में रिजर्व बैंक के आँकड़े राज्य के अपने आँकड़ों से बिल्कुल भी मेल नहीं खाते। रिजर्व बैंक ने 53 फीसदी कर राजस्व को इन योजनाओं में खर्च दिखाया था जबकि दूसरी ओर स्वयं इस राज्य के अनुसार यह प्रतिशत 2.7 ही था।

रिजर्व बैंक की रिपोर्ट में निहित तथ्यात्मक और अवधारणात्मक खामियों को छोड़ भी दें, तो भी कथित रेवड़ी संस्कृति के बहाने भारतीय राष्ट्र राज्य के लोक-कल्याणकारी चरित्र को बदलने का जो षड्यन्त्र नवउदारवादी शक्तियों के हाथों संचालित वर्तमान संघीय सरकार के द्वारा किया जा रहा है, वह चिन्ताजनक है। एक ओर नवउदारवादी आर्थिक नीतियों के कारण देश में गरीब और अमीर के बीच की खाई लगातार बढ़ती जा रही है और दूसरी ओर राष्ट्र-राज्य संविधान में निहित लोक-कल्याणकारी राज्य के आदर्श से लगातार पीछे हटता जा रहा है, सार्वजनिक सेवाओं को निजी हाथों में सौंपता जा रहा है। रोजगार विहीन विकास का जो मॉडल हमने अपनाया है, उसमें आम आदमी आधारभूत संसाधनों और सुविधाओं तक से महरूम होता जा रहा है। मानव संसाधन के विकास में राज्य के द्वारा अपेक्षित पूँजी का निवेश न करने और रोजगार के अवसर मुहैया न करा पाने के कारण असमानता भयावह ऊँचाई पर पहुँचती जा रही है। जनता के बीच राज्य की आर्थिक नीतियों के खिलाफ बढ़ते असन्तोष के खतरे को भाँपते हुए और लोकप्रिय दबाव में अगर राज्य विभिन्न प्रकार की मुफ्त योजनाओं को लागू करता नजर आता है, तो ऐसा करके वह कोई अहसान नहीं कर रहा है। अस्तु, वह अपने अस्तित्व को बचाने के लिए जूझता नजर आता है। यह मतदाताओं को मुफ्त में कुछ वस्तुएँ और सुविधाएँ देकर उन्हें ललचाने और खरीदने वाला मसला उतना नहीं है जितना मतदाताओं द्वारा अपनी जरूरतों के लिए राजनीतिक दलों पर डाला जाने वाला राजनीतिक दबाव है।

प्रधानमन्त्री मोदी जिस रेवड़ी संस्कृति का आरोप विपक्षी दलों पर लगाते हैं, वे और उनकी स्वयं की राजनीति भी इस कथित रेवड़ी संस्कृति से अछूती नहीं है। नागरिकों के सामाजिक-आर्थिक उत्थान के नाम पर उनकी संघीय सरकार और उनकी राज्य सरकारें भी गैस सिलेण्डर, आवास, शौचालय आदि पर अनुदान देती आयी हैं। भाजपा के नेतृत्व वाली संघीय सरकार द्वारा प्रधानमन्त्री किसान सम्मान निधि योजना के तहत प्रत्येक लाभार्थी किसान को साल में रुपये 6000 वितरित किये जाते हैं। मध्यप्रदेश में तो सत्ताविरोधी लहर के बावजूद लगातार तीसरी बार सरकार बनाने में भाजपा मुख्यमन्त्री लाड़ली बहन योजना के बल पर ही सफल रही थी। महाराष्ट्र के आगामी चुनावों को ध्यान में रखकर वहाँ भी इसी तर्ज पर 'मुख्यमन्त्री माझी लाडकी बहिण योजना' आरम्भ की गयी है। इसके

रिजर्व बैंक की रिपोर्ट में निहित तथ्यात्मक और अवधारणात्मक खामियों को छोड़ भी दें, तो भी कथित रेवड़ी संस्कृति के बहाने भारतीय राष्ट्र-राज्य के लोक-कल्याणकारी चरित्र को बदलने का जो षड्यन्त्र नवउदारवादी शक्तियों के हाथों संचालित वर्तमान संघीय सरकार के द्वारा किया जा रहा है, वह चिन्ताजनक है। एक ओर नवउदारवादी आर्थिक नीतियों के कारण देश में गरीब और अमीर के बीच की खाई लगातार बढ़ती जा रही है और दूसरी ओर राष्ट्र-राज्य संविधान में निहित लोक-कल्याणकारी राज्य के आदर्श से लगातार पीछे हटता जा रहा है, सार्वजनिक सेवाओं को निजी हाथों में सौंपता जा रहा है।

तहत प्रत्येक लाभार्थी महिला को प्रति माह रुपये 1500 प्रदान किये जाते हैं। स्पष्ट है कि कथित रेवड़ी संस्कृति से कोई राजनीतिक दल मुक्त नहीं कहा जा सकता।

यद्यपि सर्वोच्च अदालत के समक्ष पेश किये गये अपने एक हलफनामे में चुनाव आयोग ने कथित रेवड़ी संस्कृति को लेकर अपनी दखल की सीमाओं को रख दिया था किन्तु 4 अक्टूबर, 2022 को आयोग ने विभिन्न राजनीतिक दलों को एक पत्र लिखा जिसमें चुनावी घोषणा-पत्रों की योजनाओं के वित्तीय निहितार्थों के खुलासे को लेकर

एक मानक फॉर्म पर उनकी राय माँगी गयी थी। आयोग का दबाव है कि इन घोषणाओं को करते वक्त राजनीतिक दल राजकोषीय स्थिरता और उपलब्ध वित्तीय दायरे की कदापि अनदेखी न कर सकें। यहाँ यह किंचित विडम्बनापूर्ण कहा जा सकता है कि जिस देश में संविधान सभी नागरिकों के लिए स्वतन्त्रता, न्याय और समता का वायदा करता है, उसी देश में वित्तीय समस्याओं और अड़चनों का नाम लेकर लोक-कल्याणकारी योजनाओं के पर काटने की कोशिश स्वयं चुनाव आयोग ही करता दिखाई देता है। वास्तव में राजकोषीय घाटे, वित्तीय अस्थिरता और वित्तीय आपदा आदि के खतरों का डर दिखाकर लोकहितकारी योजनाओं के पक्षधरों पर राष्ट्रविरोधी होने का ठप्पा लगाकर नवउदारवादी आर्थिक नीतियों की पैरवीकार मोदी सरकार सब कुछ निजी क्षेत्र के हाथों में सौंपकर अपनी जिम्मेदारियों से बचना चाहती है।

जिन घोषणाओं और योजनाओं को रेवड़ी संस्कृति कहकर प्रधानमन्त्री और उनकी पार्टी के लोग विपक्षी दलों और विपक्षी सरकारों की आलोचना करते हैं, उन मुफ्त के उपहारों की कोई स्वीकृत और सुस्पष्ट परिभाषा तक हमारे सामने आज तक नहीं है। एक मत के अनुसार मुफ्त बजिली, मुफ्त पानी, मुफ्त सार्वजनिक परिवहन, विभिन्न प्रकार की घरेलू सेवाओं के मासिक बिलों की माफी और किसानों के कर्जों की माफी इनके अन्तर्गत आती है। एक मत पुरानी पेंशन की बहाली को भी इनमें जोड़ देता है। एक मान्यता मुफ्त की योजनाओं के लाभार्थियों के दायरे की सार्वभौमिकता और वैयक्तिकता के आधार पर रेवड़ी संस्कृति और लोकहितकारी योजनाओं में अन्तर की हिमायती है।

जो लोग कथित रेवड़ी संस्कृति को अर्थव्यवस्था की बर्बादी का हेतु दिखाते हुए इसे राष्ट्रविरोधी साबित करने में लगे हैं, वे यह भूल जाते हैं कि सामाजिक और आर्थिक लोकतन्त्र की प्राप्ति की दिशा में राज्य की सक्रियता का दायरा बढ़ने पर न सिर्फ समाज के कमजोर तबकों का सशक्तीकरण होता है और कामगार वर्ग की मोलभाव की क्षमता बढ़ती है बल्कि अर्थव्यवस्था के अन्दर सकल माँग में बढ़ोत्तरी होती है और आर्थिक मन्दी का दुष्चक्र तोड़ने में मदद मिलती है। राजकीय व्यय में होने वाली बढ़ोत्तरी वस्तुओं और सेवाओं की प्रभावी माँग में वृद्धि लाते हुए रोजगार की सम्भावनाओं में भी इजाफा करती है। उदाहरण के लिए, साइकिल और लैपटॉप आदि के मुफ्त वितरण से इन उत्पादों की माँग बढ़ती है और उसी अनुपात में इनसे सम्बन्धित उद्योगों में रोजगार के नये अवसर सृजित होते हैं। इसी प्रकार कृषि के क्षेत्र में दिये जाने वाले अनुदान आदि के कारण कृषि लागत कम हो जाती है जिसके कारण मुद्रास्फीति नियन्त्रण में रहती है।

मानव संसाधन के विकास की दिशा में जो राजकीय व्यय होता है, उसके परिणाम आर्थिक पैमाने पर त्वरित रूप से चाहे नजर न आते हों, लेकिन दीर्घ काल में अर्थव्यवस्था पर भी इनका सकारात्मक प्रभाव पड़ता है अतः इस व्यय को अनुत्पादक व्यय के बट्टे खाते में नहीं डाला जा सकता। उदाहरण के लिए, विद्यालय जाने वाली छात्राओं को बिहार सरकार द्वारा साइकिलों का जो निःशुल्क वितरण किया जाता है, उससे न सिर्फ बिहार की इन लड़कियों के शैक्षणिक प्रदर्शन में गुणात्मक सुधार देखा गया है, बल्कि ये पढ़ी-लिखी लड़कियाँ आगे चलकर राज्य और देश की अर्थव्यवस्था को भी प्रकारान्तर से मजबूत करती नजर आती हैं।

अन्त में, सवाल यह भी है कि नवउदारवादी अर्थव्यवस्था के जो पैरवीकार अनुदान आदि योजनाओं का विरोध राज्य के ऊपर पड़ने वाले आर्थिक भार को आधार बनाकर करते हैं, वे इन योजनाओं के लिए राजस्व वृद्धि के वैकल्पिक रास्ते क्यों नहीं सुझाते? बड़े पूँजीपतियों और राष्ट्रीय-बहुराष्ट्रीय निगमों को प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से करों में जो छूट दी जाती है, बैंकों के द्वारा उनके जो अरबों-खरबों के ऋण माफ किये जाते हैं, क्या इन सबसे अर्थव्यवस्था के ऊपर संकट नहीं आता? अस्तु, गरीब और अमीर वर्ग के ऊपर राज्य द्वारा किये जाने वाले पूँजीगत व्यय के परिणाम एक जैसे नहीं होते हैं। पहली स्थिति में जहाँ सामाजिक-आर्थिक असमानता को दूर करने में मदद मिलती है, वहीं दूसरी स्थिति में उच्च वर्ग के लिए अतिरिक्त मुनाफा सृजन के अवसर खुलते हैं। स्पष्ट है कि कथित रेवड़ी संस्कृति के नाम पर कृषि अनुदान, कृषक कर्ज माफी, पुरानी पेंशन बहाली, साइकिल और लैपटॉप आदि के वितरण और बिजली-पानी के बिलों में राहत देने आदि का जो विरोध किया जा रहा है, वह अपने-आप में गरीब विरोधी, सामाजिक-आर्थिक न्याय-विरोधी और अन्ततः लोकतन्त्र विरोधी ही साबित होता है।

■

सामाजिक सुरक्षा और राज्य की अवधारणा

प्रमोद कुमार

उदारवाद लोकतान्त्रिक सरकार का प्रतिपादक है यह ऐसी सरकार स्थापित करना चाहता है जो लोगों की लोगों के द्वारा और लोगों के लिए हो। एक ऐसी सरकार जो संविधान और संविधानवाद के अनुसार काम करे, जो कानून के शासन को प्रोत्साहित करे और लोगों के अधिकार, स्वतन्त्रता और सामाजिक सुरक्षा की रक्षा करे। उदारवाद सामाजिक सुरक्षा और लोक कल्याणवाद से निकटता से जुड़ा हुआ है। राज्य की लोक गतिविधि के रूप में कल्याणवाद का विचार है कि राज्य लोगों के कल्याण के लिए कार्य करता है।

आधुनिक रूप से सामाजिक सुरक्षा सिद्धान्त औद्योगिक उदारवादी विचारधारा की प्रतिक्रिया है, जिसके कारण बड़ी संख्या में लोग अपनी सुरक्षा के लिए केवल रोजगार से होने वाली आय पर निर्भर हो गये और पूँजीवादी व्यवस्था के कारण कामगार वर्ग का शोषण होने लगा। कालान्तर में कामगार वर्ग के आन्दोलन के कारण सामाजिक-सुरक्षा के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया जिसका आशय यह है कि राज्य के द्वारा व्यक्ति एवं समाज के सामाजिक-आर्थिक विकास के लिए लोक-कल्याणकारी नीतियाँ बनायी जाएँगी जिसके परिणामस्वरूप राजकीय सहायता से समाज के कमजोर व्यक्ति, कामगार वर्ग सशक्त होंगे, अर्थात् सामाजिक सुरक्षा सिद्धान्त का तात्पर्य कमजोर वर्ग के सशक्तीकरण से है। अन्तरराष्ट्रीय श्रम संगठन के अनुसार, सामाजिक सुरक्षा वह उपाय है जो समाज, व्यक्तियों एवं परिवारों को स्वास्थ्य देखभाल तक पहुँच सुनिश्चित करने और आय की सुरक्षा की गारण्टी प्रदान करता है।

आधुनिक राज्य का उदय एक लम्बे राजनीतिक आन्दोलन के परिणामस्वरूप हुआ। 'राज्य' शब्द का प्रयोग राज्य-प्रबन्धन तथा राजकीय सहायता, सामाजिक सुरक्षा आदि के लिए किया जाता है जैसा कि अरस्तु ने कहा है–''राज्य का उदय जीवन की मूल आवश्यकताओं से होता है तथा यह अच्छे जीवन के लिए निरन्तर अस्तित्व में रहता है। अर्थात् राज्य की सामाजिक सुरक्षा नीति के कारण ही राज्य के कमजोर वर्ग के स्तर को ऊपर उठाया जा सकता है। राज्य के उदारवादी विचारधारा के अनुसार कल्याणकारी नीतियों के द्वारा सामाजिक सुरक्षा के सिद्धान्त को सुदृढ़ किया जा सकता है। यहाँ पर राज्य की भूमिका सकारात्मक होती है।

उदारवाद का उदय ज्ञानोदय, इंग्लैण्ड की गौरवमयी क्रान्ति, अमरीका के स्वतन्त्रता युद्ध और फ्रांस की क्रान्ति में हुआ। उदारवाद सुधारों का एक सिद्धान्त है क्योंकि यह आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्रों में सुधार के प्रति समर्पित रहा है। यह व्यक्तिगत स्वतन्त्रता, व्यक्तिगत स्वायत्तता का सिद्धान्त है क्योंकि इसने मानव व्यक्तित्व के विकास के पक्ष में तर्क दिये हैं। यह लोकतन्त्र का सिद्धान्त है क्योंकि संवैधानिक सरकार लोगों की सहमति पर आधारित सरकार, कानून का शासन, विकेन्द्रीकरण और निष्पक्ष चुनाव पर बल देते हैं।

उदारवाद लोकतान्त्रिक सरकार का प्रतिपादक हैं यह ऐसी सरकार स्थापित करना चाहता है जो लोगों की लोगों के द्वारा और लोगों के लिए हो। एक ऐसी सरकार जो संविधान और संविधानवाद के अनुसार काम करे, जो कानून के शासन को प्रोत्साहित करे और लोगों के अधिकार, स्वतन्त्रता और सामाजिक सुरक्षा की रक्षा करे। उदारवाद सामाजिक सुरक्षा और लोक-कल्याणवाद से निकटता से जुड़ा हुआ है। राज्य की लोक गतिविधि के रूप में कल्याणवाद का विचार है कि राज्य लोगों के कल्याण के लिए कार्य करता है। केण्ट के अनुसार, लोकहितकारी राज्य वह है जो अपने नागरिकों के लिए व्यापक समाज-सेवाओं की व्यवस्था करता है।

अरस्तु का विचार भी ध्यान देने योग्य है कि–''राज्य जीवन के लिए अस्तित्व में आया तथा उसका अस्तित्व सद्जीवन के लिए है।'' जी.डी.एच. कोल के शब्दों में, लोक-कल्याणकारी राज्य एक ऐसा समाज है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को न्यूनतम जीवन-स्तर और समान अवसर प्राप्त होता है। वेहरन के अनुसार, सबके लिए समान अवसर प्रदान करना, अमीरों और गरीबों के बीच अन्तर मिटाना और जीवन-स्तर को ऊपर उठाना लोकहितकारी राज्यों का आधारभूत तत्त्व है।

लोक-कल्याणकारी राज्य का उद्देश्य अपनी जनता का कल्याण करना होता है। इसके लिए वह अनेक कार्य करता है जैसे अशिक्षा को दूर करना, निःशुल्क चिकित्सा की व्यवस्था करना, बेरोजगारी निवारण करना, अच्छा जीवन-स्तर प्रदान करना, भोजन, वस्त्र, आवास की मूलभूत समस्याओं का निराकरण करना।

लेखक स्वामी श्रद्धानन्द कॉलेज, दिल्ली में सहायक प्राध्यापक हैं।
+91 98997 84591
kumar.pramod088@gmail.com

यह सिद्धान्त मनुष्य की उदारवादी धारणा पर आधारित है जो अपने स्वयं की स्वतन्त्र इच्छा रखने वाले, इस संसार में एक स्वतन्त्र अभिकर्ता के रूप में है। वह व्यक्तियों, उनके स्वभाव, गतिविधियों, रुचियों एवं उद्देश्यों को अपेक्षित भूमिका दिलवाता है। राज्य को एक आवश्यकता, एक संस्था-बुरी हो या भली के रूप में देखा जाता है जो समाज में कानून व व्यवस्था, शान्ति व न्याय कायम कर सके। राज्य समग्र समाज के आम हित, सामाजिक सुरक्षा को साधने के लिए होता है। इसको मानव-कल्याण की एजेन्सी के रूप में देखा गया है, जो कि व्यक्ति के जीवन और सम्पत्ति को सुरक्षित करेगा। इसको मनुष्य के नैतिक और सामाजिक, आर्थिक विकास में योगकारी माना जाता है। उदारवाद राज्य और समाज के बीच भेद करता है कि राज्य समाज के लिए है न कि समाज राज्य के लिए। राज्य के प्रकार्यों पर उदारवादी दृष्टिकोण समय-समय पर बदलते रहे। 17वीं शताब्दी के दौरान, पूँजीवादी-वर्ग जिसने उदारवाद का समर्थन किया–की आवश्यकता भिन्न थी और 18वीं, 19वीं शताब्दी के दौरान, इस वर्ग की आवश्यकताएँ बदलीं, जिससे समाज में राज्य की एक भिन्न भूमिका आवश्यक हो गयी। 18वीं एवं आरम्भिक 19वीं शताब्दी का क्लासीकल उदारवाद, जो अल्पमत प्रकार्यों वाले नकारी राज्य का समर्थन करता था। 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध एवं आरम्भिक 20वीं सदी में आधुनिक उदारवाद में बदल गया जिसने कल्याणकारी कार्य, सामाजिक सुरक्षा वाले सकारात्मक कार्य को राज्य का समर्थन मिला। एडम स्मिथ ने क्लासिकल उदारवाद को आर्थिक आधार पर समर्थन किया और बैन्थम ने एक नैतिक और राजनीतिक आधार पर।

तदुपरान्त उदारवाद अथवा आधुनिक उदारवाद को 'लोक-कल्याणकारी राज्य का सिद्धान्त' संशोधनवादी अथवा सुधारवादी उदारवादी भी कहा जाने लगा। यहाँ राज्य को महज एक आवश्यक बुराई नहीं समझा जाता, बल्कि यह भी माना जाता है कि राज्य सामाजिक सुरक्षा के अनेक कार्य कर सकता है। सन्तुलन ला सकता है और जनसाधारण की सामाजिक-आर्थिक माँगों को पूरा कर सकता है। अनेक विचारकों मिल, कीन्स, बार्कर, लास्की एवं मैकाइवर राज्य के सकारात्मक कार्यों सम्बन्धी सिद्धान्त दिया। रूस की क्रान्ति (1928) उदारवादी राज्य के चरित्र में बदलाव का एक प्रमुख कारण रहा क्योंकि रूस की क्रान्ति का आधार मार्क्स के सिद्धान्त पर आधारित था। जो उदारवादी व्यवस्था के विकल्प के रूप में समतामूलक व्यवस्था की बात करता है जिसके मूल में सामाजिक सुरक्षा, समानता, होती है। अर्थात् राज्य का मार्क्सवादी सिद्धान्त राज्य के उदारवादी सिद्धान्त की एक समीक्षा और उसके विकल्प के रूप में उभरा। यदि उदारवाद पूँजीवाद राज्य का पोषक था तो मार्क्सवाद स्वयं पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्था का परिणाम था।

मार्क्सवादी सिद्धान्त के बढ़ते प्रभाव के कारण सामाजिक सुरक्षा के सिद्धान्त को काफी बल मिला और राज्य की अर्थव्यवस्था में हस्तक्षेप के कारण सामाजिक सुरक्षा से सम्बन्धित नीतियों का निर्माण हुआ। राज्य के द्वारा समाज के कमजोर वर्ग, गरीब, किसान, मजदूर, महिला आदि के लिए लोक-कल्याणकारी नीतियों पर जोर दिया जाने लगा। अर्थात् राज्य के टैक्स नीति एवं राजकीय अनुदान के माध्यम से सामाजिक सुरक्षा की नीति को क्रियान्वित किया गया। लेकिन 1990 के दशक के बाद वैश्वीकरण, उदारीकरण, निजीकरण की नीति के कारण, अर्थात् उदारवाद अपने एक नये रूप, नव-उदारवाद के रूप में सामने आया, जिसे क्लासिकल उदारवादी राजनीति अर्थव्यवस्था के विचारों की ओर लौटने के रूप में लिया जा सकता है।

सामाजिक सुरक्षा सिद्धान्त के सन्दर्भ में गाँधी जी के विचार उदारवादी और मार्क्सवादी पहलुओं में पायी जाने वाली राज्य-सम्बन्धी अवधारणा के साथ समानता व भिन्नता को दशार्ती है। गाँधी जी राज्य की आवश्यकता को स्वीकार करते हैं लेकिन गाँधी जी का सुझाव है कि राज्य कुछ कसौटियों के आधार पर सीमित होना चाहिए। और राज्य का अधिकार सत्ता के विकेन्द्रीकरण पर आधारित किसी व्यवस्था द्वारा कम कर दिया जाना चाहिए, जिसे राज्य से नीचे स्तर के समुदायों के पास ज्यादा स्वायत्तता और स्वतन्त्रता लाया जा सके, अर्थात् शक्तियों का विकेन्द्रीकरण होना चाहिए।

गाँधी जी ने अपनी पुस्तक 'हिन्द स्वराज' में कहा कि, इस तरह की व्यवस्था जिसमें राजनीतिक शक्तियों को एक बड़ी संख्या में स्वशासन ग्राम-समुदायों में विभाजित कर दिया जाता है। स्वराज शासक-प्रणाली है। गाँधीवादी राज्य को उसकी आर्थिक व सामाजिक व्यवस्थाओं से अलग नहीं किया जा सकता। इसी कारण स्वराज अर्थात स्वशासन सम्बन्धी संकल्पना आर्थिक व सामाजिक व्यवस्थाओं को छूती है। स्वयं ग्रामीण समुदाय के भीतर, गाँधी जी व्यक्तियों से ऊपर समूहों एवं सामाजिक सुरक्षा के महत्त्व पर जोर देते हैं। गाँधीवादी विचार पंचायती राज अथवा लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण सम्बन्धी आदर्श की धारणा में प्रतिबिम्बित होते हैं।

सामाजिक सुरक्षा के सिद्धान्त को भारतीय संविधान में नीति-निर्देशक तत्त्व के रूप में देखा जा सकता है जिसका वर्णन अनुच्छेद 36 से 51 तक किया गया है। भारतीय संविधान का लक्ष्य न केवल राजनीतिक प्रजातन्त्र की स्थापना है; अपितु जनता को सामाजिक-आर्थिक न्याय प्रदान कर लोक-कल्याणकारी राज्य स्थापित करना भी है। नीति-निर्देशक तत्त्व समाजवादी सिद्धान्त, गाँधीवादी सिद्धान्त, उदारवादी सिद्धान्त पर आधारित है। संविधान के अनुच्छेद 41 यह निर्दिष्ट करता है कि ''राज्य अपनी आर्थिक क्षमता और विकास की सीमाओं के भीतर लोगों को काम का अधिकार, शिक्षा का अधिकार, बेरोजगारी, वृद्धावस्था, बीमारी, विकलांगता, मातृत्व अवकाश सुविधा पेंशन, तथा अभाव की अन्य स्थिति में सामाजिक सुरक्षा को क्रियान्वयन करने के लिए सरकारी सहायता उपलब्ध कराने का प्रभावी उपाय करेगा। वास्तविक लक्ष्य समाज-कल्याण, नागरिकों की स्थिति में सुधार और समतामूलक समाज की स्थापना करना है।

लोक-कल्याणकारी राज्य का उद्देश्य अपनी जनता का कल्याण करना होता है। इसके लिए वह अनेक कार्य करता है जैसे अशिक्षा को दूर करना, निःशुल्क चिकित्सा की व्यवस्था करना, बेरोजगारी निवारण करना, अच्छा जीवन-स्तर प्रदान करना, भोजन, वस्त्र, आवास की मूलभूत समस्याओं का निराकरण करना।

■

समकालीन भारत में गरीबी उन्मूलन

सुधीर कुमार सुथार

समकालीन भारत में गरीबी उन्मूलन की अवधारणा के विकास को किस प्रकार देखा जाये यह सवाल महत्त्वपूर्ण है। गरीबी उन्मूलन के नीतिगत प्रयासों को सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक पहलुओं के साथ एकीकृत ढंग से देखने की आवश्यकता है। स्वाधीनता के बाद रोजगार और श्रम प्रधान गरीबी उन्मूलन नीति अब शनैः-शनैः अराजनीतिकरण और तकनीकीकरण के दौर में पहुँच चुकी है, जहाँ मध्यम वर्ग की धारणा को कॉरपोरेट आधिपत्य से विस्थापित कर दिया गया है।

लेखक सेण्टर फॉर पॉलिटिकल स्टडीज, जे.एन.यू. में असिस्टेण्ट प्रोफेसर हैं।
+919717368771
sudhir131@gmail.com

गरीबी उन्मूलन भारत में 20वीं शताब्दी में बहस का प्रमुख मुद्दा रहा है। इसकी व्यापक समझ 20वीं सदी में स्वाधीनता आन्दोलन के दौरान बनी और भारतीय नेतृत्व ने इस समस्या को भारत की प्रमुख समस्याओं में शामिल कर इसके निदान हेतु प्रयास भी किये। इसलिए भारत में आज गरीबी रेखा से नीचे रहने वाली जनसंख्या का आँकड़ा कुल जनसंख्या का 15 प्रतिशत ही रह गया है जो 1960 में 60% के करीब था। भारत ने यह लक्ष्य एक लोकतान्त्रिक, संवैधानिक और उदारवादी राजनैतिक व्यवस्था के बीच हासिल किया है। जबकि दुनिया के अन्य देशों ने, जहाँ गरीबी की स्थति कमोबेश भारत जैसी ही थी, यह लक्ष्य साधारणतया गैर-लोकतान्त्रिक राजनैतिक व्यवस्थाओं के साथ हासिल किया है। साथ ही, भारत ने यह लक्ष्य एक पेंचीदा सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक पृष्ठभूमि के बीच हासिल किया। विश्व के अन्य देश जिन्होंने इस समस्या को झेला या तो सामाजिक तौर पर समान थे, या आर्थिक तौर पर समान थे, जबकि भारतीय परिस्थितियाँ, इसके विपरीत, काफी विलक्षण थीं।

पिछले करीब दो दशकों में भारत में गरीबी उन्मूलन की अवधारणा को लेकर एक नयी बहस की शुरुआत हुई है।

इस नयी बहस के केन्द्र में दो मुख्य मुद्दे हैं–प्रथम, भारत में गरीबी उन्मूलन का उभरता चरित्र और दूसरा, इस हेतु अपनायी जाने वाली नीतियों में बदलाव।

प्रथम मुद्दे की बात करें तो यह बहस आँकड़ों को लेकर है। कुछ अर्थशास्त्री यथा सुरजीत भल्ला, अशोक गुलाटी और शमीका रवि का कहना है कि भारत में गरीबी पिछले एक दशक के सरकारी प्रयासों से अत्यन्त कम या फिर कहें समाप्तप्राय हो गयी है। इस हेतु वे हाल ही में जारी भारत सरकार या नीति आयोग के आँकड़ों का हवाला देते हैं।

इस बहस के केन्द्र में एक ऐसा मुद्दा भी है जो पहले की गरीबी उन्मूलन की नीतियों में नहीं था। यह मुद्दा है ग्रामीण और शहरी क्षेत्रों के आकलन का। शमीका रवि ने अपने एक आलेख में लिखा था कि डिपार्टमेण्ट ऑफ स्टैटिस्टिक्स की ग्रामीण और शहरी क्षेत्रों को परिभाषित करने की विधि पुरानी और भ्रामक है। भारत में पिछले तीन दशकों में शहरी क्षेत्रों का विस्तार हुआ है और शहरों के आस-पास के ग्रामीण क्षेत्रों का शहरीकरण भी हुआ है। डिपार्टमेण्ट ऑफ स्टैटिस्टिक्स के आँकड़े इस वास्तविकता को नजरअन्दाज करते हैं। शमीका का कहना था कि भारत में शहरीकरण के आँकड़े अपर्याप्त हैं क्योंकि वे शहरी क्षेत्रों के बदलते चरित्र को ठीक से नहीं बता पाते हैं।

इस बहस में अमिताभ कुण्डू का दखल एक दिलचस्प पहलू जोड़ता है। कुण्डू का

कहना था कि गरीबी के विश्लेषण को केवल आँकड़ों तक सीमित करके नहीं देखना चाहिए। गरीबी की परिभाषा में मानवीय पहलू को जोड़ते हुए उनका कहना था कि गरीबी को वर्तमान परिप्रेक्ष्य में पुनःपरिभाषित करने की आवश्यकता है और गरीबी को अलग-अलग ढंग से देखने की आवश्यकता है। इसी क्रम में नीति आयोग की मल्टी डायमेंशनल पावर्टी इण्डेक्स का हवाला देते हुए उन्होंने लिखा कि भारत के कई राज्यों में भले ही गरीबी के आँकड़ें कम हुए हैं, पर क्या वास्तव में वहाँ की जनसंख्या के जीवन-स्तर में बेहतरी आयी है? मल्टी डायमेंशनल पावर्टी इण्डेक्स विभिन्न पहलुओं को समाहित करते हुए (यथा–पोषण, स्वास्थ्य, शिक्षा, काम के बेहतर अवसर, स्वच्छ जल, बेहतर रहने की सुविधा, बिजली, बैंकिंग तक पहुँच इत्यादि) गरीबी को मापने और आँकने का प्रयास है। यह केवल प्रति व्यक्ति आय बढ़ाने को गरीबी उन्मूलन का साधन नहीं मानती। नीति आयोग का यह इण्डेक्स कई मानकों पर गरीबी को परिभाषित करने और उसके विश्लेषण का प्रयास है। इस इण्डेक्स के अनुसार बिहार की करीब 50% और झारखण्ड की करीब 42% जनसंख्या गरीबी में जी रही है।

भारत सरकार के नीतिगत प्रयासों की अगर बात करें तो गरीबी उन्मूलन को लेकर एक प्रमुख नीतिगत हस्तक्षेप प्रति व्यक्ति आय के माध्यम से है। प्रति व्यक्ति आय की नीति पर जोर दिया जाना, वास्तव में, स्वाधीनता के बाद विकसित हुए गरीबी उन्मूलन के नीतिगत फ्रेमवर्क को बदलने का प्रयास है। स्वाधीनता के बाद काम का अधिकार गरीबी उन्मूलन के केन्द्र में था। काम के अवसर प्रदान करवाने को रोजगार और फिर प्रति व्यक्ति आय में बढ़ोत्तरी का एक साधन माना गया था। अर्थात् शारीरिक श्रम की अवधारणा रोजगारपरक गरीबी उन्मूलन के नीतिगत प्रयासों के केन्द्र में थी। यही कारण है कि महात्मा गाँधी ग्रामीण रोजगार गारण्टी कार्यक्रम को भारत में आर्थिक विकास के वृहत प्रयासों के परिप्रेक्ष्य में देखा गया।

जहाँ तक प्रति व्यक्ति आय में बढ़ोत्तरी के फ्रेमवर्क की बात है तो इसकी एक प्रमुख समस्या यह है कि इसमें ट्रिकल डाउन थ्योरी को आधार मानकर यह मान लिया गया कि आय में बढ़ोत्तरी का सीधे जीवन-स्तर की बेहतरी में परिवर्तित हो जाएगा। अतः अन्य कार्यक्रमों यथा शिक्षा, स्वास्थ्य, आधारभूत ढाँचा विकास, मनोरंजन के स्थान और साधनों पर ध्यान नहीं दिया गया। इसी का यह परिणाम हुआ कि जहाँ एक ओर भारत में रोजगार के अवसरों के कार्यक्रम चलते रहे, प्रति व्यक्ति आय बढ़ती रही, वहीं जनसंख्या के जीवन-स्तर में कोई आधारभूत परिवर्तन नहीं आया।

इन कार्यक्रमों की एक आलोचना यह भी है कि इनका लाभ जरूरतमन्द वर्गों तक लाभ पहुँचाने की बजाय ये कार्यक्रम बिचौलियों की जेबें भरने के साधन बने। रोजगार के अवसर देने से लेकर मजदूरी वितरण तक एक नये वर्ग का हस्तक्षेप था। यह वह वर्ग था जो सरकारी एजेंसियों को इन नीतियों के क्रियान्वयन में सहयोग देता था। नतीजा यह हुआ कि भ्रष्टाचार की एक पूरी शृंखला इन नीतिगत प्रयासों से विकसित हुई। इस बिचौलिये वर्ग को भारत में मध्यम वर्ग के विकास से जोड़कर भी देखा जाता है। स्मरण रहे कि इस मध्यम वर्ग का विकास तकनीति क्रान्ति के मध्यम वर्ग के विकास से अलग था। तकनीकी क्रान्तिवाले मध्यम वर्ग का विकास 1990 में हुआ, वहीं सरकारी नीतियों की छोटी-छोटी खामियों से लाभान्वित होने वाले इस वर्ग का विकास 1980 के दशक में हुआ।

अगले करीब तीन दशकों तक भारत सरकार के प्रयास, कम-से-कम दस्तावेजों में तो यही थे कि भ्रष्टाचार की इस शृंखला को कैसे समाप्त किया जाये। नरेगा के बाद तकनीकी सहयोग और सामाजिक ऑडिट के दो उपाय इन प्रयासों के रूप में सामने आये एवं तथाकथित सभ्य समाज की भूमिका भी इसमें उभरी। इन प्रयासों का परिणाम यह हुआ कि गरीबी रेखा से नीचे की जनसंख्या में खासा बढ़ोत्तरी 2000 के दशक में हुई। परन्तु तब तक भ्रष्टाचार का मुद्दा गरीबी उन्मूलन के मुद्दे को राजनीतिक तौर पर विस्थापित कर चुका था। वामपन्थ और मध्यममार्गी क्षेत्रीय दलों पर लगातार लगते भ्रष्टाचार के आरोपों के बीच दक्षिणपन्थी दल भाजपा का राजनीतिक उदय हुआ जिसके केन्द्र में नरेन्द्र मोदी का गुजरात मॉडल का विकास था। भाजपा और नरेन्द्र मोदी के उदय के केन्द्र में एक नारा प्रमुख था 'बिचौलिये वर्गों की समाप्ति'। नरेन्द्र मोदी ने प्रधानमन्त्री बनने के बाद एक नारा दिया 'न खाऊँगा न खाने दूँगा'। इसका अभिप्राय उस बिचौलिए मध्यम वर्ग की समाप्ति और कॉरपोरेट फर्म आधारित विकास के मॉडल को बढ़ावा देना था।

इन प्रयासों का सीधा असर गरीबी उन्मूलन की अभी तक की नीतियों पर हुआ है। अब प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि के केन्द्र में काम का अधिकार या रोजगार के अवसरों का निर्माण न होकर, सीधे आय में वृद्धि थी। अर्थात सीधे बैंक खाते में पैसा। इस नयी अवधारणा में एक क्लिक से लाखों लाभकर्ताओं/लाभार्थियों के खाते में सीधे पैसा पहुँचाया जा सकता था। ऐसे में न तो सरकार को रोजगार हेतु नये निर्माण-कार्यों की आवश्यकता थी और न ही मध्यम/बिचौलिये वर्ग के सहयोग की। इसका सीधा परिणाम था भ्रष्टाचार की पारम्परिक शृंखला की समाप्ति। आधारभूत सुविधाओं में सरकारी निवेश की नीतियों में भी परिवर्तन आया। सरकार ने सड़क-निर्माण पर बल दिया जिससे ग्रामीण क्षेत्र शहरी क्षेत्रों से जुड़े और रोजगार के अवसर भी बने। पर इस पूरी प्रक्रिया में कॉरपोरेट की भूमिका प्रमुख हो चुकी थी। तकनीकी सलाह, आधारभूत सुविधाओं के निर्माण, नीतियों पर नजर इत्यादि सभी नीतिगत पहलुओं पर धीरे-धीरे कॉरपोरेट का आधिपत्य स्थापित हो गया। ऐसे में भारत में अब गरीबी उन्मूलन अवधारणा स्वातन्त्र्योत्तर आर्थिक विकास के मॉडल से हटकर तकनीक और 'सीधे लाभ पहुँचाना' (डायरेक्ट बेनिफिट ट्रांसफर) आधारित हो चुकी है जिसमें न ही नौकरशाही की भूमिका है, न ही सिविल सोसाइटी की और न ही राजनीतिक दलों की। अन्य शब्दों में कहें तो गरीबी उन्मूलन के मुद्दे का अराजनीतिकरण और तकनीकीकरण हो चुका है।

कोई आश्चर्य नहीं होगा अगर 2025 तक भारत दस्तावेजों और आँकड़ों में स्वयं को गरीबी मुक्त घोषित कर दे भले ही झोंपड़ियों का विकास होता रहे, लोग सड़कों पर सोते रहें, या भूख से मरते रहें, तकनीकी तौर पर हम विकसित और गरीबी मुक्त हो चुके होंगे।

■

मानवीय गरिमा की बलि

राहुल यादुका

आवरण कथा

संविधान की प्रस्तावना 'हम भारत के लोग' से शुरू होने का आशय यही है कि सारी शक्ति का स्रोत लोग हैं। परन्तु जिस तरह से गरीबी और इसके उन्मूलन की बात होती है, उससे महसूस होता है कि हम लोकतन्त्र में नहीं, बल्कि एक 'उदार तानाशाही' में रहते हैं। जिस तरह से प्रधानमन्त्री और राज्य के बड़े पद पर बैठे लोग समय-समय पर गरीबों या लाभार्थियों से वीडिओ कॉन्फ्रेन्सिग से बात करते हैं, उससे एक सामन्त की याद आती है जो होली-दिवाली अपनी प्रजा को हाथ उठाकर खुशी से खुशनामा देता है।

लेखक अम्बेडकर विश्वविद्यालय, दिल्ली में शोधार्थी हैं।
+91 88263 24382
rahulyaduka353@gmail.com

'राज्य की उत्पत्ति जीवन को
सुरक्षित करने के लिए होती है
और राज्य की निरन्तरता (सम्मान के साथ)
जीवन की बेहतरी में निहित है।
जो राज्य किसी भी एक काम में
असफल होता है,
उसकी वैधता सन्दिग्ध है।
वो हिंसा के किसी-न-किसी
रूप पर कायम है।'

हम राज्य-केन्द्रित संसार में रहते हैं। इसके बाहर अब एक सामुदायिक जीवन की कल्पना की सैद्धान्तिक सम्भावना भी नहीं दिखती। या तो कोई किसी राज्य का नागरिक होगा या 'स्टेटलेस' होने का अभिशाप उसके जीवन को संचालित करेगा। इसलिए राज्य कैसा होना चाहिए, इस पर हुई बहस का इतिहास काफी लम्बा है, जिसमें हम इस लेख में नहीं जा सकेंगे। सार-संक्षेप यह है कि आधुनिक राज्य को मोटे तौर पर कल्याणकारी होना ही पड़ेगा। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद यह बात स्थापित हो चुकी है, भले ही 1970 के दशक में नवउदारवाद के उभार ने इसको चुनौती दी और थोड़ा रूपान्तरित भी किया। आज स्थिति यह है कि राज्य के अपने नागरिकों के कल्याण करने की क्षमता उसकी वैधता (लेजिटीमेसी) को प्रतिस्थापित करने के लिए आवश्यक है। अब क्योंकि हमारे देश में चुनावी लोकतान्त्रिक व्यवस्था है, कोई भी सरकार या राजनीतिक दल खुले मंच से यह नहीं कह सकता कि राज्य का काम लोगों का कल्याण नहीं है। यह और बात है कि इस 'कल्याण' का स्वरूप क्या होगा और इसको डिलिवर करने में राज्य, बाजार और नागरिक समाज के बीच क्या सम्बन्ध होगा, इस पर बहस जारी रहती है। इस बहस में बार-बार संविधान के 'राज्य के नीति-निर्देशक तत्त्व' का सन्दर्भ भी आता है। लेकिन दूसरी तरफ समय-समय पर न्यायपालिका में संविधान की प्रस्तावना से 'समाजवाद' शब्द को हटाने की माँग भी होती रहती है। हाल में लोक-कल्याणकारी योजनाओं को 'रेवड़ी कल्चर' कहकर इस पर व्यंग्य भी किया गया। कुल मिलाकर यहाँ से बात शुरू की जा सकती है कि कल्याणकारी राज्य लोकप्रिय है लेकिन भीतर-भीतर कुछ तनाव भी है। यहाँ एक छोटी-सी बात कह देना जरूरी है। बहुत से लोगों के लिए ही स्वाभाविक हो सकता है कि राज्य का काम कल्याण ही तो है। इसमें आश्चर्य कैसा! इसलिए जानना जरूरी है कि एक समय था जब दुनिया के कुछ हिस्सों में राज्य का काम सिर्फ लोगों को सुरक्षा देना था, उनकी गरीबी दूर करना नहीं!

ऊपर की गयी चर्चा से यह भ्रम होना स्वाभाविक है कि भारत में लोक-कल्याण और इसकी योजनाएँ सबसे केन्द्रीय मुद्दा होगा। अगर संरचना के स्तर पर देखें, तो ये सच भी है। समाज के तमाम 'कमजोर' वर्गों की 'बेहतरी' के लिए केन्द्र और राज्य सरकार के तमाम

विभाग अनेक योजना चलाते हैं। इस लेख में हम यह मानकर आगे बढ़ेंगे कि तथ्यों से पाठक अवगत हैं, अन्यथा सरकार की वेबसाईट से देख सकते हैं। बजट और आर्थिक सर्वेक्षण में भी आँकड़ों का अम्बार है। आज महिला, बच्चे, विकलांग (दिव्यांग), आदिवासी, वृद्ध आदि के लिए सरकार की कई योजनाएँ हैं। ये भी आम धारणा है कि इन सब योजनाओं में भ्रष्टाचार बहुत है। इस मामले में एक पूर्व प्रधानमन्त्री का कथन बार-बार लोक-विमर्श में उद्धृत होता है कि केन्द्र से चले 1 रुपये में से धरातल पर महज 15 पैसा पहुँचता है, यानी 85% अपने लक्ष्य तक नहीं जा पाता।

लोक-कल्याणकारी योजनाओं की बहुलता और भीषण भ्रष्टाचार के एक आलोक में हम कुछ प्रश्नों पर विचार करेंगे। कोविड महामारी के दौरान हजारों मजदूर जब महानगरों से पैदल चलकर अपने गाँव लौट रहे थे, तब भारत के मध्यम वर्ग को भारत की गरीबी और उसको पोषित करने वाली व्यवस्था की एक झलक मिली। इसके बाद बहुत-सी सरकारों ने मुफ्त राशन का भी प्रबन्ध किया। 2024 के आम चुनाव के दौरान ये बात अन्दर-अन्दर चल रही थी कि उत्तर प्रदेश में राम मन्दिर वाला फैक्टर उतना नहीं है जितना 5 किलो राशनवाला है। मशहूर विद्वान बद्री नारायण जी ने भी पंजाब यूनिवर्सिटी में आयोजित एक सभा में कहा था कि 5 किलो राशन धरातल पर सरकार के पक्ष में काम करने वाला एक बड़ा कारक है। पिछले कुछ वर्षों में योजनाओं के सन्दर्भ में 'लाभार्थी' शब्द का प्रयोग भी बढ़ा है। कुछ वर्षों पहले, शायद उत्तर प्रदेश से, एक खबर आयी थी कि सरकार अनुसूचित जाती के बच्चों को दिये जाने वाले बैग पर उनकी जातिगत पहचान लिखकर दे रही है। ऐसी परिस्थिति में सबसे पहला संकट आता है मानवीय गरिमा पर। संविधान का 21वाँ अनुच्छेद सिर्फ 'जीने का अधिकार' नहीं देता अपितु 'सम्मान से जीने का अधिकार देने का वायदा' करता है। लेकिन लोक-कल्याण जो सरकार की संवैधानिक जिम्मेदारी भी है, आज मानवीय गरिमा की कीमत पर हो रहा है। आधार कार्ड वाले मामले में भी केन्द्र सरकार की सर्वोच्च न्यायालय में यही दलील थी कि जिनको योजनाओं का लाभ चाहिए, उनको निजता के अधिकार से समझौता करना होगा। जिस तरह से योजनाओं के प्रचार में 'मुफ्त' शब्द का प्रयोग बढ़ा है, वो भी इसी दिशा में इंगित करता है। दरअसल ऐसा प्रचारित कर-करके आम धारणा बना दी जाती है कि 'गरीब' एक अलग केटेगरी है और सरकार इनका कल्याण करके 'दया' कर रही है। इसमें सबसे पहले भेंट चढ़ती है 'समानता' की। इस विमर्श का दार्शनिक आधार यही मालूम होता है कि गरीबी संरचनात्मक कारणों से नहीं, प्राकृतिक कारणों से है। फिर तो ये गरीबी की मार्क्सवादी व्याख्या न होकर नवउदारवादी व्याख्या के समीप दिखेगा। तब तो ये और भी रोचक है कि आज भारत में गरीबी उन्मूलन का तर्क उसी पूँजीवाद से निकलता है, जो स्वयं इस भीषण आर्थिक गैर-बराबरी के लिए जिम्मेदार है।

जब गरीबी को उपर्युक्त रूप में परिभाषित किया जाता है तो जाहिर है इससे राज्य की भी एक परिभाषा निकलती है। 'गरीब' और 'गरीबी दूर करने वाले' में जब इतना शक्ति असन्तुलन होगा तो ये 'लोक' को तो सम्प्रभु कतई नहीं मानता। ऐसी स्थिति में पुनः एक संवैधानिक मूल्य की क्षति होती है। संविधान की प्रस्तावना 'हम भारत के लोग' से शुरू होने का आशय यही है कि सारी शक्ति का स्रोत लोग हैं। परन्तु जिस तरह से गरीबी और इसके उन्मूलन की बात होती है, उससे महसूस होता है कि हम लोकतन्त्र में नहीं, बल्कि एक 'उदार तानाशाही' में रहते हैं। जिस तरह से प्रधानमन्त्री और राज्य के बड़े पद पर बैठे लोग समय-समय पर गरीबों या लाभार्थियों से वीडिओ कॉन्फ्रेंसिंग से बात करते हैं, उससे एक सामन्त की याद आती है जो होली-दिवाली अपनी प्रजा को हाथ उठाकर खुशी से खुशनामा देता है। ये बात-चीत नहीं, एक सार्वजनिक तमाशे की शक्ल में होता है जहाँ गरीब दीनहीन दिखाया जाता है और सरकार दयालु। सीधी बात है कि ऐसे में सरकार का कदम लोगों के अधिकार की बुनियाद पर खड़ा नहीं होता है, न ही किसी राजकीय नीति पर अपितु व्यक्ति विशेष की दया और करुणा पर। इसका दूसरा आशय यह भी है कि कभी भी इस दया और करुणा से लोगों को वंचित किया जा सकता है। वैसे तो मनरेगा एक कानूनी अधिकार पर आधारित है, लेकिन इसमें भी मनमाने ढंग से हो रही कटौती भी यही प्रदर्शित करती है कि लोग सरकार के रहम-ओ-करम पर हैं।

अन्त में एक सवाल उठता है कि आखिर इस व्यवहार को स्वीकृति कहाँ से मिलती है। मेरे विचार से आज भारत का मध्यम वर्ग नवउदारवादी दर्शन की 'हेजेमनी' में जीता है। सरकार का लगातार 'आत्मनिर्भर' शब्द पर जोर देना भी इसी दिशा में एक कदम है। इस दर्शन के हिसाब से गरीबी अवांछनीय तो है लेकिन इसके पीछे गरीब स्वयं जिम्मेदार है। इसमें पूँजीवादी संरचना का कोई दोष नहीं। दरअसल हम एक ऐसी व्यवस्था में जीते हैं जहाँ न तो टेक्स्ट्बुक पूँजीवाद है न ही टेक्स्ट्बुक समाजवाद। राज्य अपनी जिम्मेदारी से तो पीछे हट रहा है लेकिन लोगों से कर वसूलने से नहीं। वस्तुतः, आम आदमी से कर वसूल कर पूँजीवादियों को समृद्ध किया जा रहा है, इस बात के व्यापक प्रमाण हैं, इसको फिर से यहाँ सिद्ध या स्थापित करने की जरूरत नहीं होनी चाहिए। बस यही आग्रह है कि राज्य को उसी पुराने नियम को याद करना चाहिए–राज्य की उत्पत्ति जीवन को सुरक्षित करने के लिए होती है और राज्य की निरन्तरता (सम्मान के साथ) जीवन की बेहतरी में निहित है। जो राज्य किसी भी एक काम में असफल होता है, उसकी वैधता सन्दिग्ध है। वो हिंसा के किसी-न-किसी रूप पर कायम है।

■

पिछले कुछ वर्षों में योजनाओं के सन्दर्भ में 'लाभार्थी' शब्द का प्रयोग भी बढ़ा है। कुछ वर्षों पहले, शायद उत्तर प्रदेश से, एक खबर आयी थी कि सरकार अनुसूचित जाती के बच्चों को दिये जाने वाले बैग पर उनकी जातिगत पहचान लिखकर दे रही है। ऐसी परिस्थिति में सबसे पहला संकट आता है मानवीय गरिमा पर। संविधान का 21वाँ अनुच्छेद सिर्फ 'जीने का अधिकार' नहीं देता अपितु 'सम्मान से जीने का अधिकार देने का वायदा' करता है। लेकिन लोक-कल्याण जो सरकार की संवैधानिक जिम्मेदारी भी है, आज मानवीय गरिमा की कीमत पर हो रहा है।

आठ कविताएँ

अंचित

जन्म : 27 जनवरी, 1990; पटना, बिहार।
शिक्षा : पटना विश्वविद्यालय से पी-एच.डी.।
रचना-कर्म : कविता संकलन 'साथ-असाथ' तथा 'शहर पढ़ते हुए' प्रकाशित। सदानीरा, समालोचन, वागर्थ, पूर्वग्रह, इण्डियन लिटरेचर आदि पत्र-पत्रिकाओं में कविताएँ, गद्य और अनुवाद प्रकाशित। लघु उपन्यास 'मौजू-ए-सुखन' बिंज पर प्रकाशित। मुक्तिबोध, स्वामिनाथन, रामकृष्ण पाण्डेय, अरुण कमल, अनामिका, राजेश जोशी, मदन कश्यप, संजय कुन्दन, मनोज झा आदि की कविताओं का हिन्दी से अँग्रेजी में अनुवाद। टी.एस. एलीयट की कविता 'द वेस्टलैण्ड' का तथा पाब्लो नेरुदा, चार्ल्ज.बकाउस्की, आर्थर रिम्बौ, यहूदा आमिखाई, सी कवाफी, महमूद दरवेश आदि कवियों का अँग्रेजी से हिन्दी में अनुवाद। जयराम रमेश की लिखी इन्दिरा गाँधी की जीवनी का हिन्दी में अनुवाद ('प्रकृति में एक जीवन')।
सम्मान : केदारनाथ सिंह कविता सम्मान 2021
सम्पर्क : anchitthepoet@gmail.com / 7091674623

रेखांकन : **प्रीतिमा वत्स**

हिन्दी कविता के विविधवर्णी परिदृश्य पर अंचित की उपस्थिति आश्वस्तकारी है! जीवन के उन छूटे हुए क्षणों को, जो अमूमन ओझल हो जाते हैं, ढूँढ़कर अपनी कविता में जीवन्त करते हुए अंचित लगातार मानवीय सम्बन्धों को गरिमा देते हैं। आप इन कविताओं में आत्मा की काँपती हुई आवाज की प्रतिध्वनियाँ सुन सकते हैं। जीने की आपाधापी में बिखरे चाक्षुष क्षणों की आकृतियों-रंगों और लोप हुए स्पन्दनों की छुअन का अपनी कविताओं में पुनराविष्कार करते हुए अंचित पीड़ा का एक ऐसा संसार रचते हैं, जिसमें जीवन को पा लेने की आकुलता है। यह आकुलता ही कवि को ऐसे सवाल तक ले जाती है कि–''क्या यही नीला अवसाद अनश्वर है दुनिया में?'' अंचित के पास एक गहरी राजनीतिक दृष्टि भी है और वह बिना किसी शोर-ओ-गुल के इस सत्य को पाते और उद्घाटित करते हैं कि ''मनुष्यता का कपड़ा उम्मीद की सूत से बना है।'' या ''हिंसा जितना गहरे छुपाये प्रेम का चाँद / उसको मिटा नहीं सकती।''

भाव-जगत को नैसर्गिक रूप से प्राणवान बनाती अंचित की काव्य-भाषा में जीवन के अन्तर्द्वन्द्वों को सहजता से अभिव्यक्त करने का कौशल विन्यस्त है।

–हृषीकेश सुलभ

ठीक नहीं किया

बड़ा मुश्किल काम है
अपने लोगों से कहना कि
आपने ठीक नहीं किया।

आपसे ही सीखा था जो सीखा था
आपसे ही पाली थी उम्मीद कि
आप उनके घर नहीं जाएँगे
जिनके दरवाजे पर प्रतिबन्धित प्रवेश की
पट्टी लटक रही है।
जन्म से अब तक बस एक बात सीखी थी
कि प्रेम सब जीत लेता है और
इस एक बात के चलते
शहर-भर से प्रेम किया था।

आपने उनकी नफरतों को अनदेखा किया
आप उनके भीतर की हिंसा
जानते हुए भी मुस्कुराये।

ऐसी क्या मजबूरी थी कि आपको
हर जगह मौजूद रहना था?
ऐसा क्या लालच था कि आपने
अपने होने को कमतर किया?

रोजनामचा

आप, जो मुझे आदर्श की परिभाषा बताते थे
हाँ आप ही, जो कहा करते थे मेरे भीतर भी
एक शोषक रहता है।
अब क्या हुआ?

समझदारी नहीं और बेवकूफी से भरा,
अव्यावहारिक शब्दों में कह रहा हूँ
आपसे बहुत उम्मीद कभी नहीं थी
और आपने ठीक नहीं किया।

घर लौटते हुए काम से
ये जो घनी उदासी है
भीतर कुछ गहरे डूब रहा है।

तुमने आज भी
थोड़ा खोया है खुद को।

इतिहास-बोध

(कामरेड के जन्मदिन पर)

बहुत पहले
मैंने तुम्हारी एक तस्वीर बनायी थी

हर रंग अपनी जगह पर, एक भी ब्रश स्ट्रोक
अतिरिक्त नहीं।

फिर मैंने तुम्हें दोबारा देखा
फिर कई दिनों में कई-कई बार।
हर बार अलग, हर बार नयी।

इससे पैदा हुई बेचैनी से बचने के लिए
मैंने खुद को गिराया हर बार सिर्फ अपने लिए
और तुम्हारे लायक होने के लिए खुद को फिर
झाड़ा-पोंछा।

इतने में बीत गयी उम्र
तुम मुझसे शायद इतना ही चाहती थी
मैं तुम्हें इतना ही चाहता था।

इन्तजार

साँझ आएगी
और मैं इस आसरे कि दर्द घटेगा
उसकी तरफ देखूँगा।

दिन बहुत उजाड़ बीता
किसी का साथी बिसर गया उससे
कोई भूखा घाम से लड़ता रहा।

कोयल नहीं बोली
एक फूल ने भी मुस्कुराकर बात नहीं की
जो परदेस में था नहीं भेज पाया एक भी सन्देश
अपनी आवाज सुनने का इन्तजार करता रहा

थके दम लेते लोगों के पास बैठेगी
दिन से हारे लोगों की दोस्त बनेगी
नींद का तोहफा लिये
तुम्हारी कोई याद लिये
साँझ आएगी।

आस्था का प्रश्न

(बोर्हेस के प्रति)

कई बार आये एक साथ
ईश्वर, उसकी आदर्श कल्पना
भुलावे, भ्रम, जागना और सोना
कविता में।
मिली घनी उदासी और
अनन्त ब्रह्माण्ड का बोझ
जो दुख की जमीन में उतरता है
उसे पहले से अधिक गहरा करता है।

क्या यही नीला अवसाद अनश्वर है
दुनिया में?
इतना काफी नहीं होना चाहिए था कि उनमें
एक जन्नत थी, एक दोजख?

क्यों चाहता था कि
कहीं एक स्त्री का नाम भी होता,
उसका विरह?

रोड शो

कोई जब सड़क पर
शक्ति प्रदर्शन करने निकलता है
मुझे फैज की याद आती है।

बेड़ियों से जकड़ा हुआ एक कवि
बाजार में पा-ब-जौलाँ चलता हुआ
तानाशाह के सामने एक घोषणा की तरह कि

हुकूमतें मिट जाती हैं स्मृतियों से
तानाशाह पन्नों से गिरकर धूल हो जाते हैं।

साफ होता है बार-बार कि
मनुष्यता का कपड़ा उम्मीद की सूत से बना है

हिंसा जितना गहरे छुपाये प्रेम का चाँद
उसको मिटा नहीं सकती।

मुलाकात

कुछ मिनट लग जाते हैं
फिर याद करने में–वही चेहरा, वही आँखें,
और सलीके से कटे हुए नाखून।

तुमसे ऐसे मिलूँगा कहाँ सोचा था,
सोचने लगा था व्यर्थ हैं मित्रताएँ
सोचने लगा था उमर तेजी से
कई सीढ़ियाँ चढ़ गयी है,
सोचने लगा था एक लकीर पर
चल रहे हैं पाँव।
तिरछे देखना छूट गया था
व्यस्तताओं से ऐसा परिचय हुआ
नवीनताओं के सभी उदाहरण पीछे छूट गये
थकने लगा था कविता से

गीले शहर का मद्धिम होता प्रकाश
डूब जाने दे इसके पहले,
तुम्हारे पीछे-पीछे चला जाता हूँ
सुसुम शाम की तरफ।

समय, रेलगाड़ी की तरह है,
चला था जहाँ से,
वापस वहीं लौट आया है।

चले जाना

नीले फूलों के बारे में सोचना
छूना होंठों पर अटक गयी
याद को जीभ से!

दृश्य टूट जाते हैं।
जीवन उफ तक पहुँचता नहीं
फिर भी बना रहता है।

खालीपन की उपस्थिति निरीह बनाती है।

हम रेत की तरह
एक खाने से दूसरे में जाने का
इन्तजार करते हैं।

सालता है वही
जो हँसा था तुम्हें देखकर।
वही पंक्ति याद आती है
जो मिटा दी लिखते हुए।

ठीक है,
चले जाना,
उससे कहा था तुमने।

नहीं सोचा था
इतनी जल्दी
वह तुम्हारी बात मान लेगा।

■

काँग्रेस के गले की फाँस

धर्मपाल धनखड़

परिवारवाद की राजनीति का विरोध करने वाली बीजेपी ने हरियाणा के तमाम परिवारवादी नेताओं और पूर्व मुख्यमन्त्रियों के राजनीतिक वारिशों को पार्टी में शामिल कर उनके परिवारवाद को आगे बढ़ाया। इसके चलते आज बीजेपी राज्य में बेहद मजबूत स्थिति में है। यही कारण है कि हाल में सम्पन्न हुए चुनाव में हर तरफ काँग्रेस की बढ़त दिखाई देने के बावजूद बीजेपी ने तीसरी बार स्पष्ट बहुमत से सरकार बना ली है। जो किसी आश्चर्य से कम नहीं है।

लेखक वरिष्ठ पत्रकार हैं।
+91 90505 00665
dpdhankhad@gmail.com

हरियाणा में बीजेपी की नयी सरकार के गठन को एक महीने से ज्यादा हो चुका है। लेकिन हरियाणा विधानसभा में काँग्रेस के नेता प्रतिपक्ष का चुनाव नहीं हो पाया। हरियाणा बनने के बाद पहली बार ऐसा हुआ है कि विधानसभा का सत्र बिना नेता प्रतिपक्ष के चलाया गया हो। बेशक नेता प्रतिपक्ष के ना होते हुए भी 37 सदस्यीय काँग्रेस विधायक दल ने सत्ता पक्ष को अनेक मुद्दों पर बखूबी घेरा। पूर्व मुख्यमन्त्री भूपेन्द्र सिंह हुड्डा सदन में पूरे समय नेता प्रतिपक्ष की भूमिका में सक्रिय दिखाई दिये। जहाँ काँग्रेस विधायक दल ने सत्ता पक्ष को घेरा, वहीं जनहित के कई मुद्दे भी उठाये। काँग्रेस विधायक दल के किसी भी सदस्य पर सत्ता पक्ष की तरफ से कोई अनुचित टिप्पणी की गयी, तो भूपेन्द्र सिंह हुड्डा ने आगे बढ़कर उनका जवाब दिया। मुख्यमन्त्री नायब सैनी ने सदन में उन्हें नेता प्रतिपक्ष कहकर सम्बोधित किया।

खैर, हरियाणा विधानसभा का सत्र तो बिना नेता प्रतिपक्ष के ही बीत गया। लेकिन मूल सवाल कायम है कि चुनाव होने के एक महीने बाद भी काँग्रेस विधायक दल का नेता क्यों नहीं चुन पायी? काँग्रेस नेताओं का कहना है कि पार्टी का केन्द्रीय नेतृत्व महाराष्ट्र और झारखण्ड विधानसभा चुनाव के साथ दो लोकसभा और 15 राज्यों की 48 विधानसभा सीटों पर हो रहे चुनाव में व्यस्त है, इसी कारण हरियाणा में विधायक दल के नेता का फैसला नहीं किया जा सका है। उम्मीद है कि इन चुनावों से निपटने के बाद इसका निर्णय लिया जाएगा। ऊपरी तौर पर देखने में काँग्रेस नेताओं का ये तर्क सही भी लगता है। लेकिन बात इतनी सहज और सरल नहीं है, जितनी दिखाई पड़ रही है। काँग्रेस आलाकमान के लिए हरियाणा में विधायक दल का नेता कौन बने? ये बहुत पेंचीदा सवाल है।

जाहिर है इसका कारण हरियाणा प्रदेश काँग्रेस में धड़ेबन्दी और गुटबाजी है। विधायक दल के नेता के चुनाव के जरिये आलाकमान भविष्य के लिए सख्त सन्देश भी देना चाहती है। जिससे ये साफ हो कि भविष्य में काँग्रेस हरियाणा में किसके नेतृत्व में आगे बढ़ेगी। इसलिए केन्द्रीय नेतृत्व के लिए इस मसले का हल निकालना सरल नहीं है।

हरियाणा प्रदेश काँग्रेस में गुटबाजी कोई नयी बात नहीं है। हरियाणा के गठन के बाद से ही प्रदेश काँग्रेस में गुटबाजी कायम है। लेकिन पार्टी केन्द्रीय नेतृत्व के मजबूत और ताकतवर होने के कारण उसके फैसलों को हर गुट को मानना पड़ता था। कई बार ऐसे अवसर भी आये कि आलाकमान के फैसले का विरोध करने वालों को पार्टी से अलग भी होना पड़ा। इनमें पूर्व उप-प्रधानमन्त्री

देवीलाल, पूर्व मुख्यमन्त्री बन्सीलाल और भजनलाल भी शामिल हैं। जिन्हें आलाकमान की तरफ से उपेक्षित किये जाने पर काँग्रेस को अलविदा कहना पड़ा। बाद में इन तीनों ही नेताओं ने अलग पार्टी बनायी। इनमें चौधरी देवीलाल ना केवल हरियाणा के सर्वेसर्वा बने, बल्कि वे राष्ट्रीय राजनीति में भी काफी समय तक काँग्रेस विरोधी राजनीति का प्रमुख चेहरा रहे। चौधरी बन्सीलाल भी अलग पार्टी बनाकर एक बार प्रदेश के मुख्यमन्त्री बने, लेकिन बीजेपी नेताओं की महत्त्वाकांक्षाओं के कारण हालात काबू में नहीं रहे। इसके चलते उनकी सरकार अपना कार्यकाल पूरा करने से पहले ही गिर गयी। और अन्ततः उन्हें अपनी पार्टी का विलय काँग्रेस में करना पड़ा था।

खुद को राजनीति का पी-एच.डी. कहने वाले पूर्व मुख्यमन्त्री भजनलाल पूरे देश में विधायकों की खरीद-फरोख्त कर दलबदल करवाकर सरकार बनाने के लिए ख्यात रहे। एक समय काँग्रेस ने भी केन्द्रीय राजनीति में सांसदों की खरीद-फरोख्त के लिए उनके कौशल का प्रयोग किया था। लेकिन कालान्तर में पार्टी आलाकमान की नजरें बदलीं, तो 2005 में विधायकों का बहुमत उनके साथ होने पर भी केन्द्रीय नेतृत्व ने हुड्डा को मुख्यमन्त्री बना दिया था। बाद में भजनलाल ने काँग्रेस को अलविदा कहकर अपनी अलग पार्टी बनायी, लेकिन दुर्भाग्य से उन्हें कोई सफलता नहीं मिल पायी। उनके राजनीतिक वारिश कुलदीप बिश्नोई कभी भाजपा के साथ गठबन्धन करके चुनाव लड़े थे, लेकिन बाद में वे काँग्रेस में शामिल हो गये। आजकल वे बीजेपी में अपने बेटे का राजनीतिक भविष्य बनाने के लिए संघर्ष कर रहे हैं। हालात इतने विपरीत हो गये कि जिस आदमपुर विधानसभा क्षेत्र में 1968 से चौधरी भजनलाल परिवार काबिज रहा, उनका प्रपौत्र भव्य बिश्नोई वहाँ से भाजपा उम्मीदवार के तौर पर चुनाव हार गया। अब सुनने में आ रहा है कि कुलदीप बिश्नोई को बिश्नोई समाज के संरक्षक पद से भी मुक्त कर दिया गया है। इन हालात के लिए स्वयं कुलदीप बिश्नोई की नीतियाँ ही दोषी हैं कोई अन्य नहीं।

हाल ही में सम्पन्न हुए विधानसभा चुनाव से पहले चौधरी बंसीलाल की राजनीतिक वारिश किरण चौधरी अपनी बेटी श्रुति चौधरी के साथ बीजेपी में आ गयी थी। वे खुद राज्यसभा में पहुँच गयी तो उनकी बेटी हरियाणा सरकार में मन्त्री हैं। वहीं एक और पूर्व मुख्यमन्त्री राव बीरेन्द्र सिंह के राजनीतिक वारिश राव इन्द्रजीत सिंह भी बीजेपी में हैं तो उनकी बेटी आरती राव प्रदेश सरकार में मन्त्री हैं। चौधरी देवीलाल के परिवार की राजनीति में बीजेपी कभी बैसाखी की भूमिका में होती थी, अब उनके वंशजों की राजनीति भी बीजेपी के रहमो-करम पर टिकी है। हरियाणा विधानसभा चुनाव में असम्भव दिखने वाली बड़ी जीत के बाद बीजेपी के हौसले बुलन्द हैं। इन बुलन्द हौसलों के साथ भारतीय जनता पार्टी महाराष्ट्र और झारखण्ड के विधानसभा चुनाव में ताल ठोंक रही है। वहीं लोकसभा चुनाव में पार्टी की बढ़त से उत्साहित केन्द्रीय काँग्रेस नेतृत्व के हौसले हरियाणा की हार के बाद पस्त दिखाई पड़ते हैं।

विधानसभा चुनाव में जीती हुई बाजी हारने के बाद काँग्रेस नेतृत्व हार का ठीकरा पूर्व मुख्यमन्त्री भूपेन्द्र सिंह हुड्डा पर फोड़ना चाहता है। अप्रत्यक्ष रूप से हार के लिए काँग्रेस नेता भूपेन्द्र सिंह को जिम्मेदार भी मान रहे हैं। लेकिन केन्द्रीय नेतृत्व खुलकर हुड्डा को जिम्मेदार ठहराने में हिचकिचा रहा है। चूँकि हरियाणा में काँग्रेस की स्थिति बड़ी नाजुक है। पिछले दस साल से राज्य में काँग्रेस संगठन नाम की कोई चीज नहीं है। संगठन के चुनाव तक नहीं हुए हैं। जबकि भाजपा बूथ लेवल तक अपनी पकड़ मजबूत बना चुकी है। काँग्रेस के कई दिग्गज पिछले दस साल में पार्टी छोड़ चुके हैं और इनमें से ज्यादातर ने पार्टी छोड़ने का कारण भूपेन्द्र सिंह हुड्डा की वर्चस्ववादी राजनीति को बताया। हालाँकि पूर्व केन्द्रीय मन्त्री चौधरी बीरेन्द्र सिंह अपने बेटे के साथ और पूर्व प्रदेश काँग्रेस अध्यक्ष अशोक तँवर बीजेपी को छोड़कर पुनः काँग्रेस में लौट आये। लेकिन इसका काँग्रेस को कोई खास फायदा नहीं हुआ। सही मायने में देखा जाये तो भूपेन्द्र सिंह हुड्डा के बिना हरियाणा में काँग्रेस का अस्तित्व ना के बराबर है। यानी काँग्रेस हुड्डा काँग्रेस में बदल चुकी है। इसी कारण न तो अशोक तँवर अपनी तमाम कोशिशों के बावजूद राज्य में संगठन खड़ा कर पाये और ना ही कुमारी सैलजा। वर्तमान अध्यक्ष उदयभान ने तो संगठन खड़ा करने की दिशा में कोई कदम ही नहीं बढ़ाया। और वे खुद भी विधानसभा का चुनाव हार गये। प्रदेश काँग्रेस प्रभारी भी हुड्डा की छत्रछाया में आगे बढ़े। राज्य में पार्टी का संगठन नहीं खड़ा होने के लिए भी हुड्डा को ही जिम्मेदार ठहराया जाता है। जबकि वास्तव में केन्द्रीय नेतृत्व जिम्मेदार है और इस जिम्मेदारी को स्वीकार नहीं कर पा रहा है।

काँग्रेस आलाकमान की बेबसी का आलम ये है कि इतने के बावजूद उसे लोकसभा और विधानसभा चुनाव में भूपेन्द्र हुड्डा को ही फ्री हैंड देना पड़ा। लोकसभा चुनाव में काँग्रेस ने दस में से पाँच सीटें जीती थीं। इससे काँग्रेस के केन्द्रीय नेतृत्व और प्रदेश के नेताओं के हौसले बुलन्द थे। लेकिन विधानसभा चुनाव में बाजी पलट गयी। अब पार्टी आलाकमान दुविधा में है। चूँकि पार्टी के चुनाव जीतकर आये 37 में से 31 विधायक हुड्डा समर्थक हैं। ऐसे में पार्टी आलाकमान के सामने यक्ष प्रश्न ये है कि भूपेन्द्र सिंह हुड्डा की सहमति के बिना विरोधी गुट के किसी विधायक को नेता प्रतिपक्ष बनाया गया, तो पार्टी में खींचतान बढ़ जाएगी। वहीं यदि हुड्डा या उसके किसी समर्थक विधायक को नेता प्रतिपक्ष बनाया जाता है, तो पार्टी आलाकमान के खुद के मजबूत होने का सन्देश देने के मन्सूबे धरे रह जाएँगे। केन्द्रीय नेतृत्व को इस बात का भी अन्देशा है कि यदि हुड्डा के खिलाफ सख्ती बरती गयी या उनकी उपेक्षा की गयी, तो वे पार्टी से अलग राह भी अपना सकते हैं। इसके बाद खस्ताहाल पार्टी को राज्य में खड़ा कर पाना, बेहद मुश्किल काम होगा। चूँकि भूपेन्द्र सिंह हुड्डा के मुकाबले काँग्रेस में कोई दूसरा व्यापक जनाधार वाला नेता नहीं है, जो सर्व स्वीकार्य हो। पार्टी आलाकमान खुद कमजोर स्थिति में है। ऐसे में हरियाणा में काँग्रेस विधायक दल के नेता का चुनाव उसके गले की फाँस बन गया है।

■

पोस्टर की लड़ाई

शिवा शंकर पाण्डेय

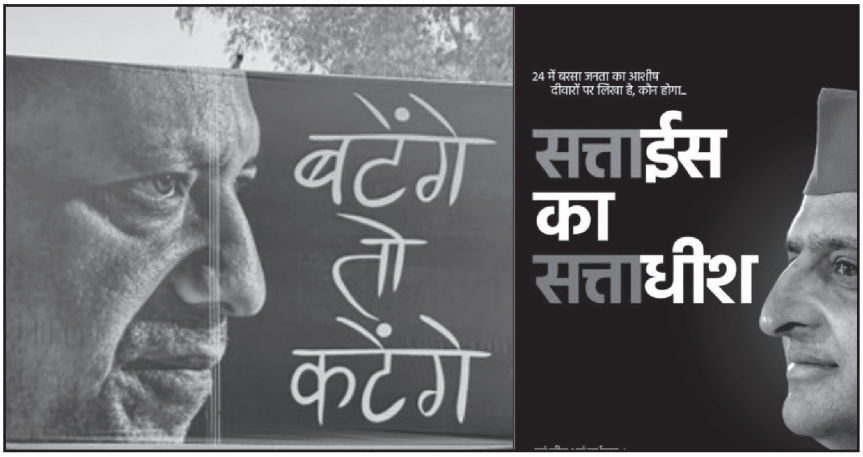

'बँटेंगे, तो कटेंगे' से शुरू यह लड़ाई 'जुड़ेंगे तो बचेंगे' से होते हुए 'न कोई बँटेगा न कोई कटेगा', 'मठाधीश बाँटेंगे और काटेंगे', 'पीडीए जोड़ेगी और जीतेगी' 'सत्ताईस के सत्ताधीश' तक जा पहुँची। तरह-तरह के ये नारे मंचीय भाषणों तक ही सीमित नहीं रहे, बल्कि राजधानी लखनऊ से लेकर कई शहरों और उप-नगरों में बाकायदे होर्डिंग और पोस्टर की शक्ल में दिखे, जो सियासी क्षेत्र से लेकर आमजन के लिए किसी अजूबा से कम नहीं रहे।

उत्तर प्रदेश की नौ सीटों पर हो रहे उप-चुनाव का रिजल्ट तो नवम्बर महीने के अन्त तक आएगा। किसका पलड़ा भारी होगा और किसका हल्का, यह भी भविष्य के गर्भ में है, पर एक नयी बात जो उभरकर सामने आयी, वह है इस बार का अजीबो गरीब 'पोस्टर वॉर'। 'पोस्टर वॉर' राज्य के अलावा देश-विदेश में खूब चर्चा का विषय बना। 'बँटेंगे, तो कटेंगे' से शुरू यह लड़ाई 'जुड़ेंगे तो बचेंगे' से होते हुए 'न कोई बँटेगा न कोई कटेगा', 'मठाधीश बाँटेंगे और काटेंगे', 'पीडीए जोड़ेगी और जीतेगी' 'सत्ताईस के सत्ताधीश' तक जा पहुँची। तरह-तरह के ये नारे मंचीय भाषणों तक ही सीमित नहीं रहे, बल्कि राजधानी लखनऊ से लेकर कई शहरों और उप-नगरों में बाकायदे होर्डिंग और पोस्टर की शक्ल में दिखे, जो सियासी क्षेत्र से लेकर आमजन के लिए किसी अजूबा से कम नहीं रहे। चुनाव-प्रचार के आखिरी समय एक और नया नारा खूब चर्चा का विषय बना–'जहाँ दिखे सपाई, वहाँ बिटिया घबड़ाई'। ऐसे होर्डिंग्स और नारे चुनावी मिजाज को बदलते रहे। इन सबने ध्रुवीकरण की राजनीति और जातीय गोलबन्दी को भी मजबूत किया। इस बार अखिलेश यादव और योगी आदित्यनाथ के बीच तीखी बयानबाजी भी खूब चर्चा में रही।

8 नवम्बर को मुख्यमन्त्री योगी आदित्यनाथ ने सपा नेता मुलायम सिंह यादव की कर्मभूमि करहल की सभा में अखिलेश यादव पर निशाना साधा। बोले–बबुआ अभी बालिग नहीं हुआ। काफी नासमझ है। योगी ने कहा, मुलायम सिंह यादव पूरे जीवन-भर जिस काँग्रेस के खिलाफ रहे, अखिलेश उसी काँग्रेस के साथ हैं। करहल में जनसभा करने पहुँचे अखिलेश यादव ने तंज कसते हुए कहा–योगी बाबा जिस तरह की भाषा इस्तेमाल कर रहे हैं वो किसी सन्त की भाषा नहीं लगती। 9 नवम्बर को प्रयागराज के फूलपुर में भाजपा प्रत्याशी के समर्थन में जनसभा करने आये योगी आदित्यनाथ ने फिर सपा को निशाने पर रखा। सपा को 'माफिया अपराधियों का प्रोडक्शन हाउस' तक की संज्ञा दे डाली। अखिलेश यादव ने एक जनसभा में योगी आदित्यनाथ की दिमागी दशा को खराब बता दिया। 16 नवम्बर को फूलपुर विधानसभा क्षेत्र के कसेरुआ पहुँचे मुख्यमन्त्री योगी ने फिर एक बार समाजवादी पार्टी को निशाने पर रखा। कहा, भारतीय जनता पार्टी राजनीति को सेवा भाव से देखती है और इसी नीति पर कार्य भी कर रही है, जबकि समाजवादी पार्टी–सबका साथ और केवल सैफई परिवार का विकास की नीति पर काम कर रही है। योगी ने यह भी कहा कि उत्तर प्रदेश को दंगा मुक्त बनाने की नीति पर हम काम कर रहे हैं। योगी ने जनसभा में सवाल उठाया कि आखिर दुर्दान्त अपराधी

लेखक नेशनल फेडरेशन ऑफ जर्नलिस्ट, ऑथर एण्ड मीडिया के प्रदेश महामन्त्री हैं।
+918840338705
shivas_pandey@rediffmail.com

और माफिया समाजवादी पार्टी के गले के हार क्यों बने रहते हैं? बहरहाल, वार-पलटवार की 'जुबानी जंग' के बीच इस बार के उप-चुनाव ने ठण्ड के इस मौसम में भी माहौल में गर्मी पैदा कर दी।

यूपी मॉडल वाया योगी मॉडल

उत्तर प्रदेश के इस बार के उप-चुनाव में गुजरात मॉडल से ज्यादा यूपी मॉडल या यूँ कहें कि योगी मॉडल की चमक-दमक और हनक का बोलबाला रहा है। कभी महाराज नाम से चर्चित और हिन्दू फायर ब्राण्ड नेता के रूप में एक खास पहचान रखने वाले योगी आदित्यनाथ हिन्दू युवा वाहिनी के प्रमुख रहे। मुख्यमन्त्री बनने के बाद योगी ने साफ किया–'केवल ईद-बकरीद पर ही चौबीस घण्टे बिजली की सप्लाई बाकी दीपावली में बिजली का अँधेरा-अन्धेरगर्दी की ये परम्परा नहीं चलने दी जाएगी। हिन्दुओं के पर्व-त्यौहार पर बिजली कटौती बर्दाश्त नहीं होगी। पहली बार काँवड़ यात्रा में काँवरियों पर हेलीकॉप्टर से फूल बरसाये गये। उत्तर प्रदेश में एक नयी किस्म की राजनीति ने करवट लेना शुरू किया।

देश के सबसे बड़े राज्य माने जाने वाले उत्तर प्रदेश में बतौर मुख्यमन्त्री योगी आदित्यनाथ ने सार्वजनिक मंचों पर ललकारना शुरू किया कि बहन-बेटियों की इज्जत करना सीखो, जिस चौराहे पर बदतमीजी या छेड़खानी करोगे, उसके अगले चौराहे पर पुलिस रूपी यमराज खड़ा मिलेगा, जो सीधे जहन्नुम पहुँचाएगा। इन सब बातों ने न सिर्फ जनमानस में असर डाला, बल्कि योगी को मजबूत भी किया। वरिष्ठ पत्रकार आशीष बाजपेई कहते हैं–उत्तर प्रदेश के योगी मॉडल की चर्चा जोर पकड़ चुकी है। वो याद दिलाते हैं कि करीब दशक-भर पहले गुजरात के मुख्यमन्त्री रहे नरेन्द्र मोदी के गुजरात मॉडल की चर्चाओं ने न सिर्फ सत्ता-परिवर्तन किया, बल्कि देश की राजनीति में मोदी को मजबूती के साथ स्थापित भी किया। अब उसी तर्ज पर यूपी मॉडल या कहा जाये कि योगी की ब्राण्डिंग शुरू हो गयी है। इस मॉडल की परख हरियाणा के बाद झारखण्ड, महाराष्ट्र में भी शुरू कर दी गयी है।

काँग्रेस का चुनाव न लड़ना भी फैक्टर

उप-चुनाव में काँग्रेस किसी भी सीट पर इस बार चुनाव नहीं लड़ रही है। काँग्रेस का चुनाव न लड़ना भी एक अहम् फैक्टर के रूप में देखा जा रहा है। पाँच महीने पहले हुए लोकसभा चुनाव में बेहतर नतीजे आने के बाद काँग्रेस पार्टी के कार्यकर्ताओं में उत्साह बढ़ा। इस बार विधान सभा उप-चुनाव में एक भी सीट पर चुनाव न लड़ने से पार्टी कार्यकर्ताओं का उत्साह धीमा पड़ा है। काँग्रेस संगठन के एक पदाधिकारी ने नाम न छापने की शर्त पर बताया कि ऐसा लगता है कि काँग्रेस ने चुनावी जंग में पहले ही हथियार डाल दिया है।

इस बार के उप-चुनाव में काँग्रेस पहले पाँच सीटें माँग रही थी पर इण्डी गठबन्धन उसे गाजियाबाद और खैर दो सीटें देने का पर राजी हो रहा था। बताया जा रहा है कि ये दोनों भाजपा की मजबूत सीटें मानी जाती हैं। काँग्रेस ने यहाँ प्रत्याशी उतारने से साफ मना कर दिया। सीटों के बँटवारे को लेकर मामला नहीं बन सका। आखिरकार काँग्रेस को विधानसभा चुनाव में किसी भी सीट पर चुनाव न लड़ने और गठबन्धन प्रत्याशियों को सहयोग करने का फैसला लेना पड़ा।

गौरतलब है कि 2019 के लोकसभा चुनाव में काँग्रेस को महज एक सीट मिली थी, लेकिन 2024 लोकसभा चुनाव में काँग्रेस ने छह सीटों पर जीत दर्ज की। इस बार के उप-चुनाव में काँग्रेस पहले पाँच सीटें माँग रही थी पर इण्डी गठबन्धन उसे गाजियाबाद और खैर दो सीटें देने का पर राजी हो रहा था। बताया जा रहा है कि ये दोनों भाजपा की मजबूत सीटें मानी जाती हैं। काँग्रेस ने यहाँ प्रत्याशी उतारने से साफ मना कर दिया। सीटों के बँटवारे को लेकर मामला नहीं बन सका। आखिरकार काँग्रेस को विधानसभा चुनाव में किसी भी सीट पर चुनाव न लड़ने और गठबन्धन प्रत्याशियों को सहयोग करने का फैसला लेना पड़ा।

चुनाव में बसपा की भूमिका

इस बार उत्तर प्रदेश में हो रहे विधानसभा उप-चुनाव में सबसे महत्त्वपूर्ण बात ये रही कि बहुजन समाज पार्टी (बसपा) पहली बार उप-चुनाव लड़ने मैदान में उतरी। जानकार बताते हैं कि इसके पहले बसपा ने किसी भी उप-चुनाव में नहीं लड़ा। बसपा संगठन से जुड़े सूत्रों का इसके पीछे तर्क है कि मैदान छोड़कर भागने से ज्यादा बेहतर है मैदान में डटकर लड़ना, परिणाम चाहे जो भी हो–पार्टी इसी रणनीति पर कार्य कर रही है। हालाँकि प्रयागराज जिलाध्यक्ष पंकज गौतम दावा करते हैं–''विधानसभा उप-चुनाव मजबूती से लड़ रहे हैं और ज्यादा-से-ज्यादा सीटें जीतेंगे भी।'' उधर, ग्यारह नवम्बर को सपा मुखिया अखिलेश यादव मुरादाबाद में आजम खाँ के घर जाकर प्रदेश की सभी सीटों पर मुस्लिम बिरादरी को साध गये। कुन्दरकी में सपा प्रत्याशी के समर्थन में जनसभा करने के बाद आजम खाँ के घर पहुँचे। उनके परिजनों से मुलाकात कर सबकी खैरियत पूछी। आवास पर करीब पन्द्रह मिनट रहे। मीडिया से कहा कि आजम के साथ भाजपा सरकार अन्याय कर रही है। जनसभा में भी सपा मुखिया ने आजम खाँ और जौहर विश्वविद्यालय का जिक्र किया। जानकारों का मानना है कि इसके जरिये अखिलेश ने यह सियासी सन्देश देने की कोशिश की कि सपा और मुलायम सिंह यादव का परिवार आज भी आजम खाँ का हितैषी है। लोकसभा चुनाव में टिकट बँटवारे को लेकर अखिलेश यादव और आजम खाँ आमने सामने आ गये थे।

बहरहाल, उत्तर प्रदेश में हो रहे नौ सीटों के विधानसभा उप-चुनाव को लेकर इण्डी गठबन्धन, एन.डी.ए., बसपा ने चुनाव में पूरी ताकत झोंक दी। चुनाव का परिणाम तो भविष्य के गर्भ में है पर महत्त्वपूर्ण यह है कि इस बार उत्तर प्रदेश का विधानसभा उप-चुनाव तीखी बयानबाजी के रूप में याद किया जाएगा और यह यूपी में मुख्यमन्त्री योगी आदित्यनाथ का भाजपा में कद भी तय करेगा। ■

झारखण्ड

जिन मुद्दों ने इतिहास रचा

विवेक आर्यन

बहरहाल, झारखण्ड चुनाव में हार के बाद भाजपा अपने पूरे सांगठनिक ढाँचे को बदलने वाली है। प्रदेश अध्यक्ष के तौर पर बाबूलाल मराण्डी पूरी तरफ असफल साबित हुए। पहले लोकसभा और अब विधानसभा में भाजपा अपने सबसे कमजोर स्थिति में आ गयी है। आदिवासियों के बीच जनाधार खत्म हो गया है और संगठन बिखर रहा है। जबकि इन्हीं दो उद्देश्यों की पूर्ति के लिए बाबूलाल मराण्डी को भाजपा में वापस लाया गया था।

झारखण्ड विधानसभा चुनाव के नतीजे इस बार चौंकाने वाले आये हैं। झारखण्ड मुक्ति मोर्चा के नेतृत्व वाली इण्डिया गठबन्धन को इस बार राज्य की जनता ने 56 सीटें नवाजी हैं, जिनमें से 34 सीटें झामुमो की, 16 काँग्रेस की, 4 राजद की और 2 माले की शामिल हैं। पूरी एनडीए सिर्फ 24 के आँकड़े पर सिमट गयी, जिसमें से भाजपा को 21, आजसू, जदयू और लोजपा (रामविलास) को 1-1 सीटें मिली हैं। एक सीट नये नेता जयराम को मिली है, उन्होंने डुमरी से झामुमो की सिटिंग मन्त्री को लगभग 10 हजार वोटों से हरा दिया है।

इस तरह इस चुनाव में झामुमो, काँग्रेस व राजद अब तक के अपने सर्वश्रेष्ठ और भाजपा सहित आजसू अपने निम्नतम प्रदर्शन पर पहुँच गयी है। पूरे राज्य में भाजपा को 28 में से सिर्फ एक आदिवासी सीट- सरायकेला हासिल हुई, जहाँ से पूर्व मुख्यमन्त्री चम्पाई सोरेन चुनाव जीतने में सफल हुए हैं। इसके इतर एससी और ओबीसी ने भी कमोबेश भाजपा के द्वारा उठाए गये मुद्दों को नकार दिया। परिणामस्वरूप भाजपा राज्य में चारों खाने चित्त हो गयी और पहली बार किसी सरकार की सत्ता में लगातार वापसी हुई है।

भाजपा की तरफ से हार का मुँह देखने वालों में ऐसे नाम शामिल हैं, जिनकी जीत पर किसी को कोई शक नहीं था। नेता प्रतिपक्ष और बाबूलाल के बाद मुख्यमन्त्री पद के दावेदार के तौर पर देखे जाने वाले अमर कुमार बाउरी अपनी सीट चन्दनक्यारी से न सिर्फ हारे, बल्कि तीसरे स्थान पर भी रहे। इसी तरह मधु कोड़ा की पत्नी अपनी ही सीट जगन्नाथपुर से चुनाव हार गयीं। भाजपा की सबसे मजबूत सीटों में से एक कांके, जहाँ से आज तक भाजपा कभी नहीं हारी थी, हार गयी। पोटका से पूर्व मुख्यमन्त्री और पूर्व केन्द्रीय मन्त्री अर्जुन मुण्डा की पत्नी मीरा मुण्डा तमाम प्रयासों के बावजूद हार गयीं। लोबिन हेम्ब्रम, जो हाल ही में झामुमो छोड़ भाजपा में गये थे, अपनी परम्परागत सीट बोरियो से चुनाव हार गये। ऐसी ही कई अन्य सीटें हैं, जहाँ चौंकाने वाले परिणाम आये हैं।

असल में विधानसभा का यह पूरा चुनाव शुरुआत से ही इण्डिया गठबन्धन की बढ़त की तरफ इशारा कर था, यह अलग बात है कि कई राजनीतिज्ञ, पत्रकार और विश्लेषक इसे पढ़ने में चूक गये। अभी जो परिणाम आये हैं, इसके रुझान 2024 के लोकसभा में ही देखने को मिले थे, जब भाजपा राज्य की पाँचों आदिवासी सीटें हार गयी थी। जबकि लोकसभा चुनाव के पहले भाजपा ने आदिवासी नेता और राज्य के प्रथम मुख्यमन्त्री बाबूलाल मराण्डी को प्रदेश अध्यक्ष बनाया और लगभग एकाधिकार दिया था कि वे जिस तरह चाहें, संगठन को चलाएँ।

लेखक पत्रकारिता के अध्यापक रहे हैं और वर्तमान में आदिवासी विषयों पर शोध और स्वतन्त्र लेखन कर रहे हैं।
+919162455346
aryan.vivek97@gmail.com

लोकसभा चुनाव में हुई क्षति की भरपाई के लिए भाजपा ने बाबूलाल के हाथ से कमान लेकर शीर्ष नेताओं के हाथ में दे दिया। बाबूलाल प्रदेश अध्यक्ष बने रहे, लेकिन सारे निर्णय पार्टी के आलाकमान के द्वारा लिये जाने लगे। विधानसभा चुनाव के पहले असम के मुख्यमन्त्री हिमन्ता बिस्वा सरमा, केन्द्रीय मन्त्री शिवराज सिंह चौहान और राष्ट्रीय उपाध्यक्ष लक्ष्मीकान्त वाजपेयी ने झारखण्ड में लगभग दो महीनों तक कैम्प किया और राज्य के आदिवासियों को अपने पाले में करने की कोशिश की।

लेकिन जिन मुद्दों का चुनाव उन्होंने किया, वे कारगर साबित नहीं हुए और न ही वे स्वयं उन मुद्दों को बहुत दूर तक और देर तक पकड़ कर रख सके। मसलन भाजपा ने सबसे जोर-शोर से बांग्लादेशी घुसपैठ का मुद्दा उठाया, जिसके तहत उन्होंने दावा किया कि झारखण्ड के सन्ताल परगना इलाके (जो बंगाल के साथ अपनी सीमा-रेखा साझा करते हैं और बांग्लादेश की सीमा के करीब हैं) में बांग्लादेश से आए मुस्लिम घुसपैठियों ने कब्जा कर लिया है और वे आदिवासी महिलाओं से शादी कर उनकी जमीन हड़प रहे हैं। इस मुद्दे से भाजपा के दो हित पूरे होते हुए दिख रहे थे, पहला कि वे आदिवासियों के साथ खड़े दिखे, और दूसरा इसमें मुस्लिम विरोध भी शामिल था, जिसका यथोचित इस्तेमाल किया जा सकता था। लेकिन कई रिपोर्ट में यह दावा झूठा निकला और केन्द्र की सरकार ने झारखण्ड उच्च न्यायालय में दायर एक हलफनामे में यह बात स्वीकार की कि सन्ताल परगना में आदिवासियों की कम होती आबादी का सम्बन्ध पलायन तथा अन्य कारणों से हैं। इस हलफनामे में घुसपैठ का जिक्र ही नहीं था।

इधर हेमन्त सोरेन ने भाजपा की ही बिसात का उपयोग कर 'मुख्यमन्त्री मइयाँ सम्मान योजना' की शुरुआत की, जिसके तहत राज्य की 18 से 50 वर्ष की महिलाओं को प्रति माह 1 हजार रुपये की आर्थिक मदद की बात कही गयी। योजना शुरू होते ही महिलाओं के खाते में पैसे जाने शुरू हुए, जिसका सीधा असर राज्य की महिलाओं के बीच दिखना शुरू हो गया। आनन-फानन में भाजपा ने बांग्लादोशी घुसपैठ का मुद्दा छोड़ 'गोगो-दीदी योजना' की घोषणा की और कहा कि भाजपा 1 हजार के बजाय 2100 रुपये राज्य की महिलाओं को देगी। लेकिन तब तक मइयाँ सम्मान योजना अपना काम कर चुकी थी। भाजपा की गोगो-दीदी योजना ने बीच रास्ते में ही दम तोड़ दिया।

जैसे-जैसे चुनाव नजदीक आता गया, भाजपा ध्रुवीकरण के पुराने फॉर्मूले पर वापस लौट आयी और यूपी के मुख्यमन्त्री ने झारखण्ड की चुनावी सभाओं में नारा दिया 'बँटेंगे तो कटेंगे'। हालाँकि कुछ सीटों पर यह नारा काम भी आया, हिन्दू वोट एकजुट हुए और झामुमो की मजबूत सीटों में से एक गढ़वा सीट भाजपा जीत पाने में कामयाब हुई। गढ़वा में कुछ दिनों पहले दंगे जैसी स्थिति भी बनी थी, जिसकी याद लोगों के जेहन में ताजा थी, और 'बँटेंगे तो कटेंगे' के नारे ने आग में घी का काम किया। इसी तरह पलामू की कुछ सीटें निकाल पाने में भी भाजपा कामयाब हो गयी। लेकिन ध्रुवीकरण का यह प्रयास बाकी सीटों पर बेकार साबित हुआ। दरअसल झारखण्ड में कभी भी इस तरह का मुद्दा कारगर नहीं रहा है। भाजपा हर बार यह समझने में भूल करती है कि यहाँ मामला हिन्दू और मुस्लिम के अलावा आदिवासियों का है, जिन्हें तफरके की राजनीति समझ नहीं आती। यह उनके जीन में ही नहीं है। भाजपा के इसी नारे और मुद्दे को यहाँ के आदिवासी 2024 के लोकसभा चुनाव में भी नकार चुके हैं, जब प्रधानमन्त्री ने कहा था कि आपकी सम्पत्ति छीनकर काँग्रेस उन्हें बाँट देगी, जो ज्यादा बच्चे पैदा करते हैं।

दूसरी तरफ, झामुमो ने जिस तरह के मुद्दे उठाये, उसका कोई काट भाजपा के पास नहीं था। सरना धर्म कोड, ओबीसी आरक्षण, 1932 के खतियान पर आधारित स्थानीय नीति, सीएनटी एक्ट, एसपीटी एक्ट, पेशा कानून आदि पर भाजपा के पास मौन के अलावा कोई विकल्प नहीं था। यानी पूरे चुनाव के मुद्दे झामुमो तय करती रही। झामुमो के सवालों का भाजपा के पास कोई वाजिब जवाब नहीं था। इसलिए भाजपा अपना चुनावी पैतरा बदलती रही।

झामुमो के सवालों के जवाब में भाजपा ने अपने सभी बड़े नेताओं को मैदान में उतारा। प्रधानमन्त्री की करीब एक दर्जन सभाएँ और रोड शो हुए, गृह मन्त्री अमित शाह ने भी लगभग इतनी ही संख्या में सभाओं को सम्बोधित किया, रक्षा मन्त्री राजनाथ सिंह से लेकर योगी तक सभी आये और सभी ने अपनी ओर से पूरी कोशिश की। इस बीच हल्के-फुल्के तरीकों से लव जिहाद, लैण्ड जिहाद और वोट जिहाद जैसे शब्द भी चर्चा में आये।

13 और 20 नवम्बर के बाद जब चुनाव आयोग ने आँकड़े जारी किये, तो यह बात सामने आयी कि मतदान में महिलाओं ने पुरुषों के मुकाबले बहुत अधिक हिस्सा लिया है। इसके अलावा ग्रामीण इलाकों में मतदान का प्रतिशत बढ़ा। इन कारकों की सभी विश्लेषकों ने अपने-अपने हिसाब से व्याख्या की और सरकार बनने, न बनने के कयास लगाये। लेकिन वे भीतर पल रहे 'मइयाँ सम्मान योजना' के प्रभाव को भाँप नहीं पाये। नतीजा जब परिणाम आया तो तमाम एग्जिट पोल धराशायी हो गये और आकलन बेबुनियाद साबित हुए।

इस पूरे चुनाव में हेमन्त की जीत के पीछे का सबसे बड़ा फैक्टर राज्य की लगभग 50 लाख महिलाएँ रहीं, जिन्हें सीधे तौर पर खाते में चार महीनों तक 1 हजार रुपये मिलते रहे। चुनाव के दरम्यान भी ये पैसे उनके खाते में गये और वोट डालते हुए उनके जेहन में यह बात रही। रोजगार के मुद्दे पर असफल झामुमो सरकार से जो नाराजगी युवाओं की थी, वह महिला वोटरों के कारण ढँक गयी। विपक्ष यानी भाजपा ने भी रोजगार के मुद्दे को अछूत समझा और युवाओं की कोई भी समस्या इस चुनाव में मुद्दा बन ही नहीं पायी।

राज्य की महिलाओं के लिए लागू 'मइयाँ सम्मान योजना' के प्रभाव को वोट में तब्दील करने का सबसे बड़ा श्रेय जाता है नवोदित राजनीतिक चेहरे और मुख्यमन्त्री हेमन्त सोरेन की पत्नी कल्पना मर्मू सोरेन को। 9 महीने पहले जब कल्पना ने राजनीति में प्रवेश किया था, तब उनके पति यानी हेमन्त सोरेन जेल में थे। अपनी पहली ही पारी में उन्होंने न सिर्फ गाण्डेय उपचुनाव जीता, बल्कि लोकसभा चुनाव के दौरान राज्य में पूरे इण्डिया गठबन्धन की अगुआई करती रहीं। लोकसभा चुनाव में राज्य की 5 आदिवासी सीटों पर इण्डिया गठबन्धन की जीत का

श्रेय भी कल्पना की मेहनत और सांगठनिक कौशल को ही जाता है। अपने दम पर उन्होंने राँची में इण्डिया गठबन्धन की उलगुलान-न्याय रैली का आयोजन किया था, जिसमें राहुल गाँधी, अखिलेश यादव, तेजस्वी यादव, सहित गठबन्धन के सभी बड़े नेता आये थे।

इस बार भी कल्पना सोरेन ने पूरे चुनाव के दौरान 100 से अधिक सभाएँ कीं, जो राजनीति में किसी महिला द्वारा की जाने वाली सबसे अधिक सभाएँ हैं। उन्होंने मंचों से ऐसे मुद्दे उठाये, जिनसे राज्य की महिलाएँ आसानी से जुड़ पायीं और आदिवासी तथा पिछड़ी जातियों के लोगों ने भी उनपर भरोसा जताया। कल्पना का आकर्षण ऐसा था कि उन्हें सुनने के लिए अप्रत्याशित भीड़ जुटने लगी। गोड्डा में प्रधानमन्त्री की रैली से ज्यादा भीड़ कल्पना सोरेन की सभा में देखने को मिली। स्थिति ऐसी भी आयी कि इण्डिया गठबन्धन के सभी नेता चाहते थे कि कल्पना उनके क्षेत्र में सभा करें। उन्होंने भी काँग्रेस, राजद और माले के प्रत्याशियों के लिए भी राज्य भर में घूम-घूमकर वोट माँगे और अपनी सीट पर भी अच्छे अन्तर से जीत पाने में कामयाब हुई।

दरअसल कल्पना सोरेन भाजपा की गलती से उपजी हुई वह नेता हैं, जो वर्तमान में भाजपा के लिए हेमन्त से ज्यादा घातक साबित हो रही हैं। ईडी प्रकरण में हेमन्त के जेल जाने से झामुमो को दो फायदे हुए। पहला–हेमन्त सोरेन और परिपक्व हो गये, उन्हें आदिवासियों की सहानुभूति मिली, वे और बड़े नेता बनकर उभरे और दूसरा–कल्पना सोरेन जैसी नेता का उदय।

राज्य की जनता कल्पना को मुख्यमन्त्री के तौर पर देखना चाहती है। इसके पीछे केवल भावुकता ही नहीं है, आधार भी है। कल्पना सोरेन में राजनीतिक समझ बहुत अच्छी है, नेतृत्व का लोहा वह मनवा चुकी हैं। सरकार चलाने का अनुभव उनके पास नहीं है, लेकिन ऐसा प्रतीत होता है कि वे राज्य का नेतृत्व करने में सफल हो सकती हैं। हेमन्त सोरेन की तरह उनपर कोई भी आरोप नहीं हैं, किसी तरह का विवाद उनके साथ जुड़ा नहीं है। नये चेहरे का आकर्षण हैं, जिसे लोग स्वीकार कर चुके हैं।

हालाँकि पूरा चुनाव चूँकि हेमन्त सोरेन के नाम पर लड़ा गया है, मुख्यमन्त्री तो हेमन्त ही बनेंगे, लेकिन कल्पना को सरकार या संगठन में बड़ी जिम्मेवारी दी जाने की पूरी उम्मीद है। हेमन्त सोरेन के पास दो महत्त्वपूर्ण पद हैं–मुख्यमन्त्री और पार्टी के कार्यकारी अध्यक्ष पद की जिम्मेवारी। मेरा आकलन है कि इसमें से कोई एक पद (सम्भवतः अध्यक्ष पद) कल्पना सोरेन को दिया जाएगा। साथ ही सरकार में भी उनकी कुछ न कुछ हिस्सेदारी हो सकती है।

बहरहाल, झारखण्ड चुनाव में हार के बाद भाजपा अपने पूरे सांगठनिक ढाँचे को बदलने वाली है। प्रदेश अध्यक्ष के तौर पर बाबूलाल मराण्डी पूरी तरह असफल साबित हुए। पहले लोकसभा और अब विधानसभा में भाजपा अपने सबसे कमजोर स्थिति में आ गयी है। आदिवासियों के बीच जनाधार खत्म हो गया है और संगठन बिखर रहा है। जबकि इन्हीं दो उद्देश्यों की पूर्ति के लिए बाबूलाल मराण्डी को भाजपा में वापस लाया गया था।

पूरी सम्भावना है कि प्रदेश अध्यक्ष, संगठन मन्त्री सहित अन्य सभी पदों पर नये लोगों को जगह मिलेगी और नये सिरे से भाजपा अपनी रणनीति पर काम करेगी। मेरा व्यक्तिगत आकलन है कि भाजपा अब आदिवासी राजनीति से किनारा कर लेगी और पूरा ध्यान ओबीसी तथा दलितों पर लगाएगी। सवर्ण जातियाँ वैसे भी भाजपा के साथ हैं। इसका यह अर्थ नहीं है कि भाजपा आदिवासियों पर बात नहीं करेगी और आदिवासी नेताओं को टिकट नहीं देगी, लेकिन उसकी नजर अब ओबीसी पर टिक सकती है। उन्हें ही केन्द्र में रखकर मुद्दे गढ़े जाएँगे।

दरअसल भाजपा ने कुछ चीजों को पढ़ने में चूक की। पहली-कोल्हान में सीटें पाने के लिए उन्होंने मुद्दों का सहारा लेने के बजाय आयातित नेताओं पर भरोसा किया। चम्पाई सोरेन, गीता कोड़ा, सरयू राय, बाबूलाल सोरेन आदि के भरोसे उन्हें लगा कि कोल्हान में वह 6 सीटें पा लेगी। लेकिन यह आँकड़ा तीन पर ही अटक गया, जिसमें से एक जदयू के द्वारा हासिल हुआ। संथाल में भाजपा 4 से घटकर 1 पर आ गयी। पलामू और दक्षिणी छोटानागपुर में भाजपा ने अपनी पारम्परिक सीटें गँवायीं और पूरा कुनबा 24 पर सिमट गया।

लेकिन सवाल है कि मीडिया के आकलन और विश्लेषण में भाजपा आगे क्यों दिख रही थी? जवाब है भाजपा द्वारा मीडिया प्रबन्धन का प्रभाव। इस बार भाजपा ने किसी भी अन्य चुनाव से अधिक खर्च मीडिया पर किया। राज्य की कई खबरिया चैनलों, डिजिटल पोर्टल पर स्पॉन्सर्ड कंटेंट के माध्यम से उन्होंने पूरा नैरेटिव अपने पक्ष में रखा। इसके लिए भाजपा की अन्य प्रबन्धन ईकाइयाँ सक्रिय रहीं और खूब पैसे भी खर्च किये।

चुनाव खत्म होने के बाद 90 फीसदी चैनलों में एनडीए की सरकार बनती हुई दिखाई दी, तमाम सोशल मीडिया प्लैटफॉर्म पर भी भाजपा की जीत के दावे किए जाने लगे। हालाँकि कुछ पत्रकार और विश्लेषक शुरुआत से झामुमो की बढ़त की बात कर रहे थे, 'इण्डिया' की जीत की तरफ इशारा कर रहे थे, लेकिन 56 के आँकड़े का अनुमान किसी ने नहीं लगाया था। खुद झामुमो के लिए भी यह सुखद आश्चर्य था।

इस चुनाव ने तीन दशक से अधिक पुरानी पार्टी आजसू को लगभग खत्म होने के कगार पर लाकर खड़ा कर दिया। 10 सीटों पर लड़ी आजसू बड़ी मुश्किल से (231 वोट के मार्जिन से) एक सीट जीती, जबकि उनके सुप्रीमो सुदेश महतो सिल्ली से खुद हार गये। इसके पीछे जयराम महतो का फैक्टर साफ दिखता है, क्योंकि दोनों दल कुर्मियों की राजनीति कर रहे हैं। दिलचस्प है कि जयराम इस बार विधानसभा के अन्दर होंगे लेकिन सुदेश बाहर।

हालाँकि जितना बड़ा जनाधार हेमन्त को मिला है, उतनी ही बड़ी चुनौती भी उनके सामने है। 10 लाख युवाओं को रोजगार, महिलाओं को प्रति माह 2500 रुपये सहित अन्य घोषणाओं को वे कैसे पूरा करते हैं, और अन्य सहयोगी दल इन सबमें उन्हें कितना समर्थन देते हैं, यह देखने वाली बात होगी। लेकिन इतना तो जरूर है कि इस चुनाव ने झारखण्ड की राजनीति की दिशा बदल दी है। इसने कई पुराने चेहरों को अपने पटल से मिटा दिया है और नये चेहरों को जगह दी है। इस चुनाव को मील का पत्थर मानकर भविष्य की राजनीति का आकलन-विश्लेषण किया जाएगा।

■

संकट के कगार पर

मणिपुर

जमुना सुखाम

मैतेई लोग इम्फाल घाटी को नियन्त्रित करते हैं जबकि कुकी लोग पहाड़ी क्षेत्रों में अपनी स्थिति मजबूत कर रहे हैं। इस विभाजन ने कुकी को एक अलग पहाड़ी राज्य की माँग करने के लिए प्रेरित किया है। मणिपुर में एक ओर प्रमुख जातीय समूह नागा, वर्तमान संघर्ष से बाहर रहे हैं, लेकिन अपने प्रभुत्ववाले क्षेत्रों को शामिल करते हुए एक अलग प्रशासनिक इकाई की आकांक्षा रखते हैं। प्रतिस्पर्धी क्षेत्रीय दावों का यह संगम मणिपुर की क्षेत्रीय अखण्डता के लिए एक गम्भीर खतरा पैदा करता है।

लेखिका उच्चतर माध्यमिक विद्यालय, नीलपद्मा, इम्फाल में शिक्षिका हैं।

+919774675045

jsukham@gmail.com

3 मई, 2023 को भारत के उत्तर-पूर्वी राज्य मणिपुर में मुख्यतः दो आदिवासी समुदाय के बीच जातीय हिंसा भड़क उठी। सरकारी आँकड़ों के अनुसार 3 मई, 2024 तक कई लोगों की जानें गयीं, कई लापता हुए, कई घायल और कई विस्थापित। धार्मिक ढाँचों में तोड़फोड़ की गयी जिनमें मन्दिर और चर्च शामिल हैं।

मणिपुर की स्थिति राष्ट्रीय प्रतिक्रिया की माँग करती है। राज्य को विभाजित करने वाली हिंसा और संघर्ष केवल स्थानीय मुद्दा नहीं हैं बल्कि सुरक्षा के लिए सभी हितधारकों तथा राजनीति के लिए खतरा बन गये हैं। यह समय स्थिरता का है, यहाँ राज्य सरकार, केन्द्र सरकार तथा साधारण जनता को एक साथ मिलकर काम करने की आवश्यकता है। मणिपुर में डेढ़ साल से भी ज्यादा समय से अशान्ति है और इसके समाधान की कोई उम्मीद नहीं दिख रही है। लम्बे समय से चल रहे संघर्ष और मूल कारणों को दूर करने में राज्य सरकार की बार-बार की विफलताओं ने राजनीतिक नेताओं की सामान्य स्थिति बहाल करने की क्षमता पर गम्भीर सवाल खड़े कर दिये हैं।

इस स्थिति को समझने के लिए निम्नलिखित कुछ बिन्दुओं को जानना समुचित होगा–

प्रवासन : प्रवासन का तात्पर्य मोटे तौर पर प्रशासनिक सीमा के पार निवास के परिवर्तन से है और यह परिवर्तन अन्तर-महाद्वीपीय, अन्तर-राष्ट्रीय, अन्तर-क्षेत्रीय, अन्तरराज्यीय, ग्रामीण से शहरी आदि हो सकता है। जब प्रवासन मूल स्थान और गन्तव्य के बीच पलायन और अन्तर्वाह में बदल जाता है, तो यह प्रक्रिया एक अन्तर्निहित खतरे की धारणा को जन्म देती है।

कुकी प्रवासन : आयरिश भाषाविद् जॉर्ज अब्राहम ग्रियर्सन के अनुसार, 'कुकी' और 'चिन' शब्द समानार्थी हैं, कुकी एक असमिया या बंगाली शब्द है, जिसका प्रयोग विभिन्न पहाड़ी जनजातियों जैसे लुशी, रंगखोल, थाडौ (थाडोस) आदि के लिए किया जाता है; चिन एक बर्मी शब्द है; नाम (चिन) का प्रयोग जनजातियों द्वारा–स्वयं नहीं किया जाता है, वे जो या यो और शो जैसे शीर्षकों का उपयोग करते हैं। तद्नुसार 'चिन', 'कुकी', 'जो' शब्द समानार्थी हैं।''[1] मणिपुर के राजनीतिक एजेण्ट सर जेम्स जॉनस्टोन (1877-1886) ने अपनी पुस्तक 'मणिपुर और नागा हिल्स' में लिखा है– 'कुकी शब्द पहली बार मणिपुर में 1830 और 1840 के बीच सुना गया था।' यह शब्द इतना अस्पष्ट है कि भारत सरकार ने 1956 तक उन्हें कुकी जनजाति के रूप में मान्यता नहीं दी।''[2]

महाराज नर सिंह के शासनकाल में 1844-1850 में कुकी लोग लुशाई हिल्स (अब मिजोरम्) और चिन हिल्स से मणिपुर में बड़ी संख्या में पलायन कर गये थे, जिसे 18वीं और 19वीं सदी में एक्सोडस कहा जाता है। ऐसा खास तौर पर इसलिए हुआ क्योंकि उन्हें म्यामार और लुशाई हिल्स के ज्यादा शक्तिशाली समूहों ने विस्थापित कर दिया था। इन अप्रवासी कुकी लोगों ने मणिपुरी राजाओं से शरण और

जमीन माँगी थी। उल्लेखनीय रूप से बर्मी आक्रमणों और सात साल की तबाही (1819-1826) के बाद बड़ी संख्या में कुकी मणिपुर में आकर बस गये।

अलग राज्य की माँग

इसमें कोई सन्देह नहीं है कि 18वीं और 19वीं शताब्दी में शुरू हुई कुकी चिन प्रवास की लहरों ने मणिपुर की जनसांख्यिकी पर गहरा प्रभाव डाला है। लेकिन यह जनसांख्यिकीय असन्तुलन तक सीमित नहीं है। यह आमद मणिपुर की सामाजिक-राजनीतिक अशान्ति के लिए एक स्थायी कारक बन गयी है। इसका मुख्य कारण यह है कि अप्रवासी कुकी मणिपुर में अपने बेहतर सामाजिक जीवन और आर्थिक अवसर से सन्तुष्ट नहीं हैं। वे इस अर्थ में अतृप्त हैं कि वे भारत के संविधान के तहत अनुसूचित जनजाति के रूप में मिलने वाले विशेषाधिकारों से सन्तुष्ट नहीं हैं। जब उनकी आबादी बहुत बड़ी नहीं थी, तब भी अप्रवासी कुकी एक विशेष राजनीतिक क्षेत्र की लालसा रखते थे। वास्तव में, मणिपुर में वर्तमान हिंसक संघर्ष का मूल कारण यही है। जैसे ही अप्रवासी कुकी की आबादी एक जीवित रहने लायक हिस्से पर पहुँची, कुकी नेशनल असेम्बली (के.एन.ए.) ने 24 मार्च, 1960 को भारत के प्रधानमन्त्री जवाहरलाल नेहरू को कुकी राज्य की स्थापना की माँग करते हुए एक ज्ञापन सौंपा। ज्ञापन में लिखा था, ''इसलिए कुकी नेशनल असेम्बली, भारत के साथ इस आम बैठक में देश के बाकी हिस्सों के साथ अपनी एकजुटता की पुष्टि करते हुए कुकी राज्य की तत्काल स्थापना और भारत में कुकी के निवास के तहत सभी समीपवर्ती क्षेत्रों के एकीकरण के लिए भारत सरकार से एक उचित और मजबूत माँग करने का संकल्प लेती है और कुकी जिले की स्थापना की पिछली माँग को दबाने के लिए उसी माँग को अपने अन्तिम लक्ष्य तक ले जाती है।''[3]

मैतेई समुदाय

मैतेई समुदाय भारत के पूर्वोत्तर राज्य मणिपुर में रहने वाला एक महत्त्वपूर्ण स्वदेशी समूह है जो खुद को सामाजिक, राजनीतिक, शैक्षिक और सांस्कृतिक चुनौतियों के एक जटिल जाल में फँसा हुआ पाता है। ये कठिनाइयाँ चल रही नागरिक अशान्ति, विशेष रूप से कुकी समुदाय के साथ संघर्ष और अपने स्वयं के बुद्धिजीवियों और शिक्षाविदों द्वारा प्रभावी प्रतिनिधित्व की कमी के कारण और भी बढ़ गयी है। कुकी समुदाय अपनी गतिविधियों को जारी रखने और अन्तरराष्ट्रीय निकायों, धार्मिक समूहों, गैर-सरकारी संगठनों और मानवाधिकार संगठनों से सहानुभूति प्राप्त करने के लिए संघर्ष कर रहे हैं। इसके विपरीत मैतेई समुदाय के शिक्षाविद इस तरह के प्रयासों में शामिल होने में काफी हद तक विफल रहे हैं। मैतेई समुदाय की बौद्धिक शून्यता सिर्फ वकालत के बारे में नहीं है, बल्कि इतिहास और संस्कृति के संरक्षण के बारे में भी है। मैतेई जनजाति (जो हिन्दू धर्मावलम्बी हैं), जिसकी संस्कृतिक और ऐतिहासिक विरासत 5,000 साल से भी ज्यादा पुरानी है, अब हाशिये पर धकेल दिये जाने के खतरे का सामना कर रही है। संघर्ष के कुछ महत्त्वपूर्ण कारण और तत्काल ध्यान देने योग्य निम्नलिखित बातें हैं–

शासन नेतृत्व की विफलता : मणिपुर में लम्बे समय से चल रहा संघर्ष राज्य में शासन की पूर्ण विफलता को दर्शाता है। राज्य और केन्द्र सरकारों ने संघर्ष के अन्तर्निहित कारणों को दूर करने के बजाय संकट प्रबन्धन का सहारा लिया है। शान्ति बहाल करने के लिए एक सुसंगत राजनीतिक पहल की अनुपस्थिति ने स्थिति को नियन्त्रण से बाहर जाने दिया है, जिससे मणिपुर लगभग अराजकता की स्थिति में आ गया।

शासन की व्यापक कार्य-योजना तथा राष्ट्रीय कार्यवाई का समय मणिपुर में मौजूदा स्थिति तत्काल और निर्णय की माँग करती है। राज्य सरकार ने लोगों का विश्वास खो दिया है और व्यवस्था बहाल करने में असमर्थता दिखाई है। वर्तमान में सुरक्षा संचालन का प्रबन्ध और संघर्षों के बीच बेहतर समन्वय सुनिश्चित करने की आवश्यकता है।

सामूहिक कार्यवाई को बढ़ावा देना: सरकार को यह सुनिश्चित करना चाहिए कि संघर्ष को बढ़ावा देने वाले मूल मुद्दों को सम्बोधित कर अलगाववाद के बजाय समावेशिता को बढ़ावा देने वाली नीतियाँ अपनाये। समान संसाधन आवंटन से इनकार करने वालों को दण्डित करना और दोनों समुदायों के लिए प्रतिनिधित्व सुनिश्चित करना तनाव को कम करने में मदद कर सकता है।

राज्य का विखण्डन व विभाजन का खतरा: होने वाले संघर्ष के कारण मणिपुर जातीय आधार पर गहराई से विभाजित हो गया है। मैतेई लोग इम्फाल घाटी को नियन्त्रित करते हैं जबकि कुकी लोग पहाड़ी क्षेत्रों में अपनी स्थिति मजबूत कर रहे हैं। इस विभाजन ने कुकी को एक अलग पहाड़ी राज्य की माँग करने के लिए प्रेरित किया है। मणिपुर में एक और प्रमुख जातीय समूह नागा, वर्तमान संघर्ष से बाहर रहे हैं, लेकिन अपने प्रभुत्व वाले क्षेत्रों को शामिल करते हुए एक अलग प्रशासनिक इकाई की आकांक्षा रखते हैं। प्रतिस्पर्धी क्षेत्रीय दावों का यह संगम मणिपुर की क्षेत्रीय अखण्डता के लिए एक गम्भीर खतरा पैदा करता है, यह राज्य अब युद्ध-क्षेत्र बन गया है जिसमें मैतेई और कुकी दोनों अपने-अपने प्रभाववाले क्षेत्रों को भारी रूप से मजबूत कर रहे हैं।

मीडिया की भूमिका: इस संघर्ष में दोनों पक्षों की ओर से मीडिया पर संयम जरूरी है। राष्ट्रीय मीडिया को सही रिपोर्टिंग की जिम्मेदारी लेनी चाहिए और टी.आर.पी. रेटिंग या किसी से बेहतर होने की होड़ में नहीं पड़ना चाहिए। मणिपुर की पीड़ा को सही ढंग से उजागर किया जाना चाहिए।

निष्कर्षतः कुकी और मैतेई समुदायों के बीच संघर्ष-युद्ध की दोहरी प्रकृति का उदाहरण है। मस्तिष्क के साथ युद्ध में मनोवैज्ञानिक रणनीतियाँ और कथात्मक हेरफेर शामिल है, जबकि हथियारों के साथ युद्ध इन तनावों की हिंसक परिणति का प्रतिनिधित्व करता है। शिक्षित-वर्ग को झूठे आख्यानों का सक्रिय रूप से मुकाबला करना चाहिए तथा इतिहास और वर्तमान घटनाओं की सन्तुलित समझ को बढ़ावा देना चाहिए। केवल ऐसे प्रयासों के माध्यम से ही मनोवैज्ञानिक और शारीरिक युद्ध के चक्र को तोड़ा जा सकता है, जिससे स्थायी शान्ति और सुलह का मार्ग प्रशस्त होगा। भारत जैसे मजबूत लोकतान्त्रिक राष्ट्र, समाजवादी, धर्मनिरपेक्ष, लोकतान्त्रिक, गणराज्य में होने वाला यह संघर्ष कुछ ज्यादा ही समय से चल रहा है। अब इसकी ओर केन्द्र सरकार को तत्काल ध्यान देने की आवश्यकता जान पड़ती है।

सन्दर्भ

1. द संगाई एक्सप्रेस, इम्फाल; शुक्रवार, सितम्बर 2024, पृष्ठ 4.
2. वही, पृष्ठ 1. 3. वही, पृष्ठ 1.

■

जस्टिस चन्द्रचूड़ : कोर्ट के भीतर और बाहर

रविभूषण

चतुर्दिक

शपथ ग्रहण के समय जज संविधान के प्रति श्रद्धा और निष्ठा रखने का उल्लेख करते हैं—उस शपथ में सम्यक रूप से और निष्ठापूर्वक तथा अपनी सर्वोत्तम योग्यता, ज्ञान और विवेक से बिना किसी भय या पक्षपात के अनुराग या द्वेष के अपने पद के कर्तव्यों का पालन करने की बात कही गयी है। कोर्ट में आये सभी प्रकार के मुकदमों पर अपने ज्ञान और विवेक से जज फैसले देते हैं। फैसलों में जजों की निजी आस्था का कोई महत्त्व नहीं है।

अपनी सेवा-निवृत्ति के पहले भारत के 50वें मुख्य न्यायाधीश डॉ. धनंजय यशवन्त चन्द्रचूड़ (11.11.1959) जितनी अधिक चर्चा और सुर्खियों में रहे, उतना शायद ही कोई अन्य पूर्व मुख्य न्यायाधीश रहा हो। एक जज के रूप में उनका कार्यकाल इक्कीसवीं सदी की शुरुआत से रहा है। 29 मार्च, 2000 से 30 अगस्त, 2013 तक वे बॉम्बे उच्च न्यायालय के न्यायाधीश थे और 30 अगस्त, 2013 से 12 मई, 2016 तक इलाहाबाद उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश रहे हैं। सुप्रीम कोर्ट में उनका कार्यकाल एक न्यायाधीश के रूप में 13 मई, 2016 से 8 नवम्बर, 2022 तक था। 9 नवम्बर 2022 से 10 नवम्बर, 2024 तक वे भारत के मुख्य न्यायाधीश थे। न्यायालय और मुख्य न्यायाधीश के रूप में उन्होंने 700 से अधिक केस में फैसले दिये हैं। वे 1274 बेंचों के हिस्से थे और 700 से अधिक दिये गये फैसलों में उनके द्वारा लिखित फैसले 612 हैं। मुख्य न्यायाधीश के रूप में वे 18 संवैधानिक बेंचों में थे। उनके कई फैसलों का ऐतिहासिक महत्त्व है। निजता का अधिकार (राइट टू प्राइवेसी), समलैंगिकता का वैधीकरण (डीक्रिमिलाइजेशन ऑफ होमोसेक्सुएलिटी), गर्भपात का अधिकार (अबॉर्शन राइट), आर्टिकल 379, इलेक्टोरल बाण्ड योजना आदि। वे सुप्रीम कोर्ट में 8 वर्ष 5 महीने रहे, जिनमें मुख्य न्यायाधीश का उनका कार्यकाल दो वर्ष से अधिक का था। निजता को चन्द्रचूड़ ने 'मौलिक अधिकार' माना और उसे मानव-अस्तित्व की गरिमा का आवश्यक हिस्सा कहा। सोहराबुद्दीन एनकाउण्टर केस की सुनवाई करने वाले जस्टिस लोया की सन्दिग्ध हालत में हुई मौत को सुप्रीम कोर्ट के तत्कालीन मुख्य न्यायाधीश दीपक मिश्रा, जस्टिस ए.एम. खानविलकर और डी.वाई. चन्द्रचूड़ की पीठ ने सन्दिग्ध नहीं माना था और न उसके लिए एस.आई.टी. (विशेष जाँच टीम) की जाँच आवश्यक ठहरायी थी। इस पीठ के अनुसार जज लोया की मौत प्राकृतिक कारणों से हुई थी और इससे सम्बन्धित जनहित याचिका (पी. आई.एल.) में बिल्कुल भी दम नहीं है। सुशोभन पटनायक (शोधार्थी, तथ्य जाँचकर्ता, सुप्रीम कोर्ट ऑब्जर्वर) ने जस्टिस चन्द्रचूड़ के लम्बे कार्यकाल में उनकी सात प्रमुख असहमतियों का उल्लेख किया है। सात अवसरों पर उन्होंने अपने कार्यकाल के दौरान निष्कर्ष या तर्क पर बहुमत से अलग अपनी राय रखी है।

गणेश चतुर्थी के अवसर पर उनके आवास पर प्रधानमन्त्री नरेन्द्र मोदी के आगमन और उनके द्वारा की जाने वाली पूजा की तस्वीरों को देखने के पहले जस्टिस चन्द्रचूड़ कभी इतनी अधिक चर्चा में नहीं रहे थे। कोर्ट के भीतर से कहीं अधिक बाहर की कुछ घटनाओं पर कई सवाल उठे—एक इण्टरव्यू में एक प्रश्न के उत्तर में उन्होंने यह कहा है कि मेरे कार्यकाल पर टिप्पणी करने की जिम्मेदारी समाज की है। अपने को उन्होंने इस संस्था (सुप्रीम कोर्ट) में 'संवैधानिक मूल्यों को प्रोमोट करने वाला एक सेवक' कहा है।

'समाज को मेरे बारे में कहना चाहिए

लेखक जन संस्कृति मंच के राष्ट्रीय अध्यक्ष हैं।

+919431103960

ravibhushan1408@gmail.com

कि हमने कुछ कार्य सही ढंग से किये या कुछ गलतियाँ कीं' इंग्लैण्ड के पूर्व चीफ जस्टिस लॉर्ड हेवर्ट (7.1.1870-5.5.1943) का रेक्स बनाम ससेक्स जस्टिस (1924) के बी 256 के मामले में कहा गया यह कथन अब न्यायपालिका में और उसके बाहर भी बार-बार कहा जाता है कि न्याय न केवल किया जाना चाहिए, बल्कि यह भी देखा जाना चाहिए कि न्याय किया गया है। न्यायालय के फैसलों पर बात करना, न्यायपालिका में आस्था रखने के कारण भी है। पिछले दस वर्ष में संवैधानिक संस्थाएँ कमजोर की गयी हैं। मीडिया 'गोदी मीडिया' के रूप में प्रसिद्ध हो चुका है। ऐसी स्थिति में सबका एक मात्र ध्यान न्यायपालिका पर, और उसमें भी सुप्रीम कोर्ट पर जाकर टिक जाता है। कार्यपालिका और न्यायपालिका के बीच दूरी की बात सदैव की जाती रही है। 2018 में सुप्रीम कोर्ट के चार वरिष्ठ न्यायाधीशों ने प्रेस कान्फ्रेन्स कर जो बातें कही थीं और तत्कालीन मुख्य न्यायाधीश द्वारा केस आवंटन को लेकर जो सवाल रखे थे, उन्हें सदैव याद रखना न्यायपालिका के हित में है। इस संस्था में, भरोसे के टूट जाने के बाद फिर कुछ भी नहीं बचेगा। न लोकतन्त्र, न संविधान, न नागरिक सुरक्षा, न विधि-व्यवस्था, न मौलिक अधिकार।

पूर्व मुख्य न्यायाधीश चन्द्रचूड़ ने अपने विदाई समारोह में दुश्मनों का बड़ा एहतेराम करने की बात कही, अपने कार्यकाल की चर्चा भी की। मुझे लगता है, व्यवस्था को मैंने उससे बेहतर स्थिति में छोड़ा है। मुझे ट्रोल करने वाले लोग सोमवार (11 नवम्बर, 2024) से बेरोजगार हो जाएँगे। क्या सचमुच व्यवस्था को उन्होंने बेहतर स्थिति में छोड़ा? सवाल यह भी है कि उन्हें क्यों 'ट्रोल' किया गया? उनसे, न्यायपालिका से भारतीय नागरिकों को जो अपेक्षाएँ थीं, क्या वे सब पूरी हुईं? वे विवादों में क्यों रहे? कोर्ट के बाहर समय-समय पर उन्होंने जो भी कहा, उनमें से ही कुछ कथन विवाद के कारण बने। चन्द्रचूड़ पिछले बारह वर्ष में दो वर्ष तक मुख्य न्यायाधीश के पद पर रहने वाले अकेले थे। इतनी लम्बी अवधि किसी को विगत बारह वर्ष में नहीं मिली थी। 2014 से देश के जो हालात हैं, उसके कारण न्यायपालिका पर अधिक भरोसा सबने किया। क्या इस भरोसे को झटका नहीं लगा है? क्या न्यायपालिका के प्रति आस्था नहीं डगमगायी है? नरेन्द्र मोदी के प्रधानमन्त्री बनने के दो वर्ष बाद वे सुप्रीम कोर्ट के जज बने थे। इसी दौर में बार-बार संविधान बचाओ, लोकतन्त्र बचाओ का आह्वान किया जाता रहा है, जिसकी रक्षा का दायित्व सुप्रीम कोर्ट और मुख्य न्यायाधीश का है। शपथ ग्रहण के समय जज संविधान के प्रति श्रद्धा और निष्ठा रखने का उल्लेख करते हैं–उस शपथ में सम्यक रूप से और निष्ठापूर्वक तथा अपनी सर्वोत्तम योग्यता, ज्ञान और विवेक से बिना किसी भय या पक्षपात के अनुराग या द्वेष के अपने पद के कर्तव्यों का पालन करने की बात कही गयी है। कोर्ट में आये सभी प्रकार के मुकदमों पर अपने ज्ञान और विवेक से जज फैसले देते हैं। फैसलों में जजों की निजी आस्था का कोई महत्त्व नहीं है। 2019 में अयोध्या मन्दिर और बाबरी मस्जिद में तत्कालीन मुख्य न्यायाधीश रंजन गोगोई की अध्यक्षता वाली पाँच सदस्यों की जिस पीठ ने फैसला दिया, उनमें से एक जज चन्द्रचूड़ भी थे। उस फैसले के सम्बन्ध में बाद में किसी भी जज ने शायद ही कुछ कहा हो। सुप्रीम कोर्ट के इतिहास में यह अकेला फैसला है, जिस पर किसी भी जज का फैसला देने वालों का कोई हस्ताक्षर नहीं है। सामान्यतः सुप्रीम कोर्ट का कोई एक जज फैसला लिखता है और उसका नाम होता है, रामजन्म भूमि मन्दिर पर सुप्रीम कोर्ट के एक हजार पैंतालीस पन्नों के फैसले और अलग से जोड़े गये 116 पन्नों के परिशिष्ट के सम्बन्ध में यह अनुमान किया गया था कि उसे न्यायाधीश चन्द्रचूड़ ने लिखा है, जिसकी पुष्टि उनके कथन से हुई। अपने पैतृक गाँव की एक सभा में उन्होंने भगवान से समाधान माँगने की बात कही। भगवान में आस्था का मामला निजी है। सुप्रीम कोर्ट जैसी संस्था में भगवान की बात करना एक प्रकार से संविधान को दरकिनार करना है। मुकदमों से समाधान अगर भगवान करें तो पुजारी कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। राम मन्दिर मामले में भगवान स्वयं एक पार्टी थे और उनसे ही समाधान माँगा गया। भगवान ने अपने पक्ष में फैसला दिया। सुनवाई पाँच जजों की बेंच ने की थी, पर समाधान भगवान ने दिया। सुप्रीम कोर्ट में संविधान का महत्त्व है, न कि भगवान का। प्रधानमन्त्री ने अपने को 'नॉन बायोलोजिकल' कहा था और न्यायाधीश ने भगवान से समाधान प्राप्त किया।

पच्चीस वर्षीय युवा पत्रकार सौरभ दास ने अँग्रेजी मासिक पत्रिका कारवाँ के नवम्बर 2024 के अंक में पैंतालीस पृष्ठों की एक रिसर्च रिपोर्ट चन्द्रचूड़ पर लिखी है–''द इक्विवकेशन ऑफ जस्टिस डी.वाई. चन्द्रचूड़''। निष्पक्ष ढंग से इस शोध-रिपोर्ट में उनके कार्यकाल और कुछ निर्णयों पर विचार किया गया है। कोर्ट के भीतर दिये गये फैसलों से कहीं अधिक विवाद कोर्ट के बाहर चन्द्रचूड़ के दिये गये बयान या कथन को लेकर है। उनके जजमेण्ट के एक विशेष पैटर्न की बात कही जा रही है, जो जस्टिस चन्द्रचूड़ पैटर्न या चन्द्रचूड़ मॉडल ऑफ जजमेण्ट है। राम जन्म भूमि मामले में बाबरी मस्जिद के नीचे किसी भी मन्दिर के होने का कोई पुरातात्त्विक साक्ष्य नहीं था। बाबरी मस्जिद ध्वंस को सुप्रीम कोर्ट ने अपने फैसले में कानून के शासन का उल्लंघन माना था। कानून की रक्षा का दायित्व न्यायपालिका पर है। कोर्ट कानून तोड़ने वालों को सजा देता है, पर बाबरी मस्जिद तोड़कर जिसने अपराध किया, उसे कोर्ट ने कोई सजा नहीं दी। यह सामान्य घटना नहीं थी। इसने पूरे समाज को प्रभावित-विभाजित किया, हिन्दू कट्टरता बढ़ायी, देश के विविध हिस्सों में दंगे हुए। बाबरी मस्जिद का ध्वंस एक प्रकार से आपसी भाईचारे का भी ध्वंस था। सुप्रीम कोर्ट का फैसला जस्टिस चन्द्रचूड़ ने लिखा, जिसका उल्लेख ईश्वर से समाधान माँगने में उन्होंने किया, पर अपराधियों को सजा न देकर पुरस्कृत किया गया। राम जन्म भूमि पर फैसला तत्कालीन मुख्य न्यायाधीश की अध्यक्षता में जिस पाँच जजों की पीठ ने दिया था, उसमें जस्टिस एस.ए. बोबडे, जस्टिस अशोक भूषण और जस्टिस एस. अब्दुल नजीर के साथ जस्टिस चन्द्रचूड़ भी थे। जिसने कानून का उल्लंघन किया, उसे कोई सजा नहीं मिली। पाँच जजों की इस संवैधानिक बेंच ने 2.77 एकड़ विवादास्पद जमीन राम मन्दिर बनाने के लिए हिन्दू पार्टी को देने को कहा। सुप्रीम कोर्ट के और उसमें भी मुख्य न्यायाधीश की अध्यक्षता वाली बेंच के फैसलों का विशेष महत्त्व है, पर सभी फैसलों का प्रभाव दूरगामी नहीं होता। सबरीमाला पर दिये गये फैसले और समलैंगिकता पर दिये गये फैसलों का महत्त्व है, पर बाबरी मस्जिद एवं राम मन्दिर पर दिया गया फैसला कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। क्या यह फैसला पाँच जजों द्वारा नहीं दिया गया था? क्या इस समस्या का समाधान भगवान ने किया? अभी तक धर्म, भगवानादि की केवल चर्चा ही नहीं, उसे सब कुछ मानकर आर.एस.एस., भाजपा और प्रधानमन्त्री नरेन्द्र मोदी ने समाज को जहाँ तक पहुँचा दिया है, वह क्या कम था?

मुख्य न्यायाधीश के लिए आस्था महत्त्वपूर्ण है या विवेक? 'मन की बात' प्रधानमन्त्री कर

सकते हैं, मुख्य न्यायाधीश नहीं कर सकते। प्रधानमन्त्री से कहीं अधिक जनता का विश्वास पिछले दिनों उन पर हो गया था। न्यायपालिका से विश्वास डगमगाया है, अभी भी पूरी तरह समाप्त नहीं हुआ है, उम्मीद की कुछ किरणें अभी शेष हैं।

राजीव धवन ने अपने लेख 'टेकिंग स्टॉक ऑफ चीफ जस्टिस डी.वाई. चन्द्रचूड़' (द वायर 4 नवम्बर, 2024) में यह जानना चाहा है कि उन्हें किस देवता ने सहायता की? क्या वे राम थे? क्या तत्कालीन न्यायाधीश रंजन गोगोई का दबाव था, या देवता ने सहयोग किया था? धवन के अनुसार सुप्रीम कोर्ट के इतिहास में यह त्रुटिपूर्ण निर्णयों में एक है। संघ परिवार के विरोध में बाबरी मस्जिद का फैसला होना चाहिए था। पर जैसी राम जी की मर्जी, जिस समय लोकतन्त्र और संविधान खतरे में है, यह सवाल पूछा जाएगा कि वैसे समय में सुप्रीम कोर्ट और मुख्य न्यायाधीश ने इसे खतरे से निकालने के लिए क्या-क्या किया? कितने मामलों में उसने स्वतः संज्ञान लिया? जस्टिस कृष्ण अय्यर लगभग सात वर्ष तक सत्तर के दशक में सुप्रीम कोर्ट में न्यायाधीश थे उन्होंने 'नेशन' (राष्ट्र) को न्यायपालिका की एक कांस्टिट्यूएंसी कहा था और संविधान को उसका घोषणा-पत्र। 5 नवम्बर को मुख्य न्यायाधीश डी.वाई. चन्द्रचूड़ की अध्यक्षता वाली नौ जजों की बेंच ने 1978 में दिये गये फैसले संविधान के अनुच्छेद 39(बी) के तहत सरकार द्वारा आम लोगों की भलाई के लिए निजी सम्पत्तियों के अधिग्रहण को दो के मुकाबले सात के बहुमत के फैसले से बदल दिया। इस फैसले से जस्टिस वी.वी. नागरतन की आंशिक रूप से और जस्टिस सुधांशु धूलिया की सभी पहलुओं पर असहमति थी। जस्टिस वी. कृष्ण ने 1978 में यह फैसला दिया था कि सभी निजी सम्पत्तियों पर राज्य सरकारें कब्जा कर सकती हैं, जिसे खारिज किया गया। बहुमत से दिये गये इस फैसले में प्रत्येक निजी सम्पत्ति को सामुदायिक सम्पत्ति नहीं माना गया। यह स्वस्थ लक्षण है कि सुप्रीम कोर्ट के न्यायाधीश कम ही सही, कई फैसलों पर अपनी असहमति दर्ज करते हैं। इस फैसले में जस्टिस कृष्ण अय्यर को जिन शब्दों में मुख्य न्यायाधीश ने याद किया था और उन पर टिप्पणी की थी, जस्टिस धूलिया के अनुसार उससे बचा जा सकता था। जस्टिस नागरतन के अनुसार जजों को पुराने जजों की प्रैक्टिस पर दोष नहीं देना चाहिए। यह जस्टिस अय्यर का ही शब्द-निर्माण (क्वायवेज) है कि 'जमानत नियम है और जेल अपवाद' है।

चन्द्रचूड़ ने जमानत का कोई केस शायद ही सुना। उन्होंने 'ए' से 'जेड' तक जमानत देने की बात कही, पर इन दोनों के बीच जो कई 'वर्ण' हैं–यू से उमर, जी से गुलफशाँ आदि अनेक, उन्हें जमानत नहीं मिली। दुष्यन्त दवे ने करन थापर को दिये इण्टरव्यू में कहा कि मुख्य न्यायाधीश चन्द्रचूड़ ने राजनीतिक रूप से संवेदनशील मामलों को टाल दिया। लोया की मौत की जाँच कराने से इनकार किया। उनको संविधान की तरफ झुकाव रखना चाहिए था, सत्ताधारी लोगों की ओर नहीं। 'हेट स्पीच' पर कोई नियन्त्रण नहीं लगा। वह बदले रूपों में अब भी कायम है। चन्द्रचूड़ के कई फैसलों पर सवाल उठे हैं। 24 साल के अपने कैरियर में उन्होंने जो भी फैसले दिये हैं, उनमें से खोज-खोजकर सवाल किये जा रहे हैं, पर उनकी शख्सियत से, उनके वाचन, लेखन से कोई इनकार नहीं कर सकता। बहुत कम जजों ने उनके जैसे फैसले लिखे हैं। उनकी कई विशेषताएँ हैं। उनके कई फैसले प्रगतिशील और ऐतिहासिक हैं। अपने फैसलों में उन्होंने कई सिद्धान्त भी रखें। उनके निर्णयों में सुन्दर विचार झलकते हैं ऐसा कहा गया है। उनके कई फैसले लॉ स्कूलों में पढ़ाये जाएँगे। उनके आलोचक भी उनकी प्रशंसा करते हैं। सबमें सभी सकारात्मक पहलू ही नहीं होते। अब तक किसी को यह पता नहीं है कि गणेश चतुर्थी के अवसर पर अपने आवास पर प्रधानमन्त्री से आने का आग्रह उन्होंने किया था या प्रधानमन्त्री स्वेच्छा से उनके यहाँ पहुँचे थे। इसके बाद ही विरोधी स्वरों की भरमार हुई। उनके अनुसार ऐसी मुलाकातें स्वाभाविक हैं। हाईकोर्ट के मुख्य न्यायाधीश की मुख्यमन्त्री से भेंट से भिन्न थी यह भेंट जो किसी सार्वजनिक स्थल पर न होकर उनके आवास पर हुई थी, जिसने कार्यपालिका और न्यायपालिका के बीच की दूरी पर प्रश्न खड़े किये।

चन्द्रचूड़ अब सेवा-निवृत्त हैं। सौरभ दास ने उनमें 'फ्लिप-फ्लॉप टेण्डेंसी' देखी है। छोटे मुद्दों पर उनके फैसलों को सराहा गया है और बड़े मामलों में उनके फैसलों को सरकार के पक्ष में माना गया है। वैचारिक मुद्दों से भाजपा लाभान्वित हुई है–सुप्रीम कोर्ट के एक भूतपूर्व जज ने उन्हें 'जज' से ज्यादा एक प्रोफेसर का रोल निभाते देखा है, उनकी बातों और जजमेण्ट में अन्तर पाया गया है। राजनीतिक कैदियों को अभी तक जमानत नहीं मिली हैं। उनके द्वारा कई केस जस्टिस बेला त्रिवेदी के कोर्ट (कोर्ट नं.-16) में भेजे जाने की भी बात कही गयी है, जिन्हें 'प्रो स्टेट जज' कहा गया है। जस्टिस मुरलीधर के नाम को उन्होंने कॉलेजियम में प्रमुखता नहीं दी। उन्होंने जिसे अपराधी माना, उसे कई मामलों में सजा नहीं मिली। ऐसे कई मामले सरकार से जुड़े थे। उनसे जितनी उम्मीद थी उन सब पर यह माना जा रहा है कि वे खरे नहीं उतरे। उनके व्यक्तित्व की जितनी प्रशंसा की जाती है, उतनी उनके निर्णयों की नहीं। उन्होंने अपने कन्धों के मजबूत होने की बात कही है–''मैं सबकी आलोचना झेल सकता हूँ'' मुखालिफत से मिरी शख्सियत सँवरती है/ मैं दुश्मनों का बड़ा एहतेराम करता हूँ। जस्टिस चन्द्रचूड़ को प्रचार अच्छा लगता है, मुख्य न्यायाधीश के पद पर रहते हुए उन्होंने इण्डियन एक्सप्रेस अड्डा और दैनिक भास्कर में इण्टरव्यू दिये हैं। ऑल इण्डिया रेडियो के इण्टरव्यू में उन्होंने समाचार वाचकों की आवाज की प्रशंसा की। उन्होंने देवकी नन्दन पाण्डेय, पामेला सिंह और लोतिका रत्नम की आवाजों की प्रशंसा की। उनके इण्टरव्यू से उनके बारे में कई जानकारियाँ मिलती हैं। दैनिक भास्कर के मध्य प्रदेश के राज्य सम्पादक सतीश सिंह ने उनके निवास 5, कृष्ण मेनन मार्ग, दिल्ली में उनसे विशेष बातचीत की। 2024 में किसी भी मीडिया संगठन को दिया गया उनका यह पहला इण्टरव्यू था। दिल्ली वे 1975 में आये। आकाशवाणी में उन्होंने 'ऑडिशन' दिया था। माँ शास्त्रीय संगीतज्ञ थी। हिन्दी में आकाशवाणी में उन्होंने कुछ समय तक कार्य किया। एक वर्ष पहले से उनकी जीवन-शैली वीगन है। सेवा-निवृत्ति के बाद हाई कोर्ट और सुप्रीम कोर्ट के जजों के राजनीति में प्रवेश को वे उनका 'निजी मामला' मानते हैं। जजों का राजनीति में जाना या न जाना बहस का विषय है, पर सेवा-निवृत्ति के पश्चात् कुछ अन्तराल अवश्य होना चाहिए। उनका यह कथन गौरतलब है कि एक बार जज के रूप में नियुक्त होने के बाद सेवा-निवृत्ति के बाद भी वे जीवन-भर के लिए जज होते हैं। सामान्य व्यक्ति और नागरिक की निगाह में जज की पहचान सदैव जज के रूप में ही होती है। रिटायरमेण्ट के बाद भी जजों का बोलना और आचरण पहले की तरह का ही होना चाहिए।

■

डिवाइस थिएटर के ऊबड़-खाबड़ रास्ते

राजेश कुमार

तीसरी घण्टी

समय, काल और स्थान के अनुसार धर्म, राजनीति, विज्ञान के साथ-साथ कला-साहित्य और थिएटर में भी कुछ-न-कुछ परिवर्तन होता रहता है। कुछ भी जड़ नहीं रहता है। और जो अपनी जड़ता बनाये रखता है, उसे इतिहास बनते देर नहीं लगती है। रंगमंच पर अब किसी खास लोक का आधिपत्य नहीं है, ग्लोबल हो चुका है। दुनिया के किसी कोने में किसी भी प्रकार का थिएटर होता हो, उसकी जानकारी कहीं-किसी को लग जाती है।

थिएटर में रोज नये-नये प्रयोग हो रहे हैं। सफल होते हैं तो दूसरे लोग भी आजमाते हैं, अगर असफल हो गया तो किसी कोने में दम तोड़ देता है। डिवाइस थिएटर भी एक ऐसा ही प्रयोग है जो आजकल यूरोप के देशों से होते-होते हमारे यहाँ भी आ गया है। भले यह रंगमंच की मुख्य धारा में अभी न आया हो, लेकिन देश के जो शिक्षण नाट्य संस्थान हैं, वहाँ कार्यक्रम के तहत सम्मिलित हो गया है। और चूँकि यह पाश्चात्य धनी देशों से आया है, इसलिए इसके प्रति अतिरिक्त प्रेम उमड़ना भी स्वाभाविक है। अमेरिका में नस्ली भेदभाव के विरोध में एक लम्बे समय से साहित्य और सिनेमा में चल रहे 'ब्लैक लिटरेचर'–'ब्लैक सिनेमा' की तरह साथ–सत्तर वर्षों से रंगमंच की दुनिया में 'ब्लैक थिएटर' ने अलग तरह की प्रस्तुति और उपेक्षित कथ्य पर स्पॉटलाइट डालकर उसको ध्यान से देखने के लिए जिस तरह मजबूर किया है, उसी तरह भारत में अम्बेडकर की विचारधारा को फोकस करते हुए दलित थिएटर के लिए भारतीय रंगमंच ने जो स्पेस बनाया है, वे भले भारतीय नाट्य शिक्षण संस्थानों में अध्ययन का पाठ्यक्रम बनाने में सफल न हो पाये हों, लेकिन डिवाइस्ड थिएटर अब इनके सिलेबस का हिस्सा तो बन ही गया है। शायद इसका एक कारण यह हो कि ब्लैक या दलित थिएटर महज एक नाट्य रूप नहीं है, इसकी अपनी एक वैचारिकी भी है। वैसे कोई भी थिएटर बिना विचार का नहीं होता है। अगर करने वाले की नीयत साफ न हो तो ब्रेख्तियन नाटक को भी बुर्जुआ नाटक बना दे और देखने वालों को पता भी न चले।

पिछले दिनों दिल्ली में दो डिवाइस नाटक हुए। एन.एस.डी. के बहुमुख में फाइनल ईयर स्टूडेण्ट द्वारा नीलम मान सिंह चौधरी के निर्देशन में सआदत हसन मण्टो की कहानियों पर आधारित 'लेमन सोडा' और दूसरा जवाहर भवन में शिवेन्द्र सिंह का लिखा और शुभम् तिवारी द्वारा अभिनीत निर्देशित 'इण्डिया आफ्टर भगत सिंह'। एन.एस.डी. के सिलेबस में जुड़ जाने के कारण हर वर्ष फाइनल ईयर के छात्रों द्वारा एक डिवाइस्ड नाटक करना पड़ता है। कभी उनके फैकल्टी के अमिताभ पिल्लै, शान्तनु बोस करवाते हैं तो कभी गेस्ट फैकल्टी के किसी निर्देशक द्वारा। शुभम् तिवारी लम्बे समय से लखनऊ में थिएटर एक्टिविस्ट के रूप में कार्य करते रहे हैं। फिलहाल पाण्डिचेरी से नाटक की पढ़ाई पूर्ण करके लौटे हैं।

डिवाइस्ड थिएटर को इन दोनों नाटकों के माध्यम से थोड़ा-बहुत जाना जा सकता है या इनके माध्यम से डिवाइस थिएटर की परम्परा और औचित्य के बारे में थोड़ा-बहुत जायजा तो लिया ही जा सकता है। इस बात में तो शक की कोई गुंजाइश ही नहीं है रंगमंच की यह अवधारणा हमारी नाट्य-परम्परा से नहीं आयी है। संस्कृत नाटक से लेकर लोक-शैली के किसी नाटकों में इस अवधारणा का कोई संकेत नहीं मिलता है। संस्कृत और लोक-नाटकों में

लेखक भारतीय रंगमंच को संघर्ष के मोर्चे पर लाने वाले अभिनेता, निर्देशक और नाटककार हैं।
+919453737307
rajeshkr1101@gmail.com

शैली, कथ्य और संवाद इतना प्रबल होता है कि भाव व्यक्त करने के लिए उसे किसी अतिरिक्त बिम्ब-प्रतीक व अतिरिक्त यान्त्रिक कौशलता की जरूरत नहीं पड़ती है। पाश्चात्य देशों में रहने वालों को अपने निजी जीवन की जो जटिलता होती है, आधुनिकता से उपजने वाली जिन्दगी का जो संकट होता है, वह जब कथ्य या संवाद से अभिव्यक्त नहीं हो पाता है तो मंच के पात्र अपने जीवन के अन्दर और बाहर के बिम्बों में खुद को तलाश करने लगता है। जरूरी नहीं कि जो बिम्ब उसके दिमाग या परिवेश में इधर-उधर उत्पन्न हो रहे हैं, वे स्वाभाविक रूप से आएँ। कई बार इस तरह के जो प्रतीक मंच पर उत्पन्न किये जाते हैं, तैयार करना है, उसके बाद उससे जुड़े जो भी विचार उनके मन में आते हैं, उसे नाटकीय भाषा में ढालना शुरू कर देते हैं। इस प्रक्रिया में ढेर सारे कोलाज आते हैं जिन्हें जरूरत पड़ती है तो जोड़ लेते हैं या फिर अनिश्चय की दशा में हटा देते हैं। ऐसे नाटकों में किसी लेखक की जरूरत भी नहीं पड़ती है। नाटक में भाग लेने वाले खुद इसके लेखक भी होते हैं। लेखक के रूप में किसी का नाम देने की भी जरूरत महसूस नहीं करते हैं। बल्कि इसके स्थान पर एक नया नाम 'परिकल्पक' शब्द ईजाद कर लिया है। पोस्टर पर निर्देशक यही शब्द अपने लिए प्रयोग करता है। ऐसे नाटकों का कोई एक लेखक न होने के कारण एक आशंका यह भी

असंगत भी होते हैं। उनका उनके जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं होता है। देखने में नाटकीय और रहस्यवादी भी होते हैं। अगर आप उनकी स्थापना से सहमत नहीं होते हैं तो जरूरी नहीं कि हों। वे आपसे इसकी कोई आशा भी नहीं रखते। हाँ, कभी-कभी चमत्कार उत्पन्न करना चाहते हैं। अगर उसके प्रभाव से आप चमत्कृत हो गये तो वे इसे अपनी डिवाइस की सफलता मानते हैं। इस तरह के जो नाटक होते हैं, वे रूप और कथ्य में परम्परागत नाटकों के सदृश्य नहीं होते हैं। यहाँ एकांगी का कोई कॉन्सेप्ट नहीं होता है। जो होता है, सामूहिक रूप से होता है। इसलिए ऐसे नाटकों से अगर कोई सुगठित कथ्य व संयमित संवादों की आशा करेंगे तो आपको निराशा हाथ आएगी। अधिकतर इस तरह के नाटक इम्प्रोवाइजेशन से भी तैयार कर लेते हैं। इस प्रक्रिया में उन्हें कोई विशेष, कोई रैखिक कहानी की जरूरत नहीं होती है। एक योजना लेकर चलते हैं कि किस मुद्दे पर नाटक होती है कि जो ऐक्टर जिधर चाहता है, नाटक को खींचता रहता है। सामूहिक रूप से नाटक का लेखन-कार्य करने से हर ऐक्टर अपने-अपने ढंग से सोचता है, कथ्य-बिम्ब-प्रतीक की कल्पना करता है, इसलिए वे रुचिकर प्रभावशाली तो होते हैं लेकिन अपने सम्पूर्ण प्रभाव में किसी लक्ष्य तक पहुँच पाते हैं कि नहीं, इसकी कोई गारण्टी नहीं है। आये दिन इस तरह के प्रयोग देखने को मिलते हैं लेकिन व्यावहारिक रूप में कोई मुकम्मल नाटक आ पाता है कि नहीं, कह पाना मुश्किल है। ऐसे नाटकों का कोई आलेख नाट्य-साहित्य में देखने-पढ़ने को नहीं मिलता है। शायद ही ऐसे नाटक प्रकाशित भी होते होंगे। ऐसे अधिकतर नाटकों की उम्र उतनी ही होती है, जीतने दिनों तक ये मंचित होते रहते हैं। नाटक के स्कूलों में बतौर प्रशिक्षण ऐसे नाटक अक्सर तैयार होते हैं। जितने दिन मंचित होते हैं, लोगों को याद रहता है। उसके बाद उस नाटक की कोई चर्चा नहीं करता है, न उसका कहीं अभिलेख मिलता है।

पाश्चात्य देशों में इसके सूत्र तलाशने की अगर कोशिश करें तो ग्रोटोवॉस्की के नाटकों में मिल सकते हैं। अभिजात्य रंगमंच की पारम्परिक अवधारणाओं को खारिज कर ग्रोटोवॉस्की ने अपने 'पुअर थिएटर' में लोगों के जीवन को उतारने के लिए महँगे प्रेक्षागृहों को त्यागा था, कथा को खण्डित कर जिन्दगी के टुकड़ों में बदल दिया था और इसके लिए मंच के तामझाम को न अपनाते हुए दर्शकों से केवल शब्दों और शारीरिक मुद्राओं द्वारा अभिव्यक्त करने की जो शैली ईजाद की थी, इसकी मूल भावना तो डिवाइस नाटक में देख सकते हैं लेकिन इसमें जनता की कितनी भागीदारी है, इसमें संशय है। डिवाइस नाटक का जोर चमत्कार और कोई नया प्रयोग करने में ज्यादा होता है। जनता के प्रति उनका रुझान या प्रतिबद्धता कम दिखती है। अगर डिवाइस थिएटर का यह स्वर होता तो उनके बीच यह दिखता भी। लेकिन यह केवल नाटक स्कूल की चहारदीवारियों तक ही सीमित रहने के कारण जनता से इसका वैसा रिश्ता नहीं है जैसा कि स्ट्रीट थिएटर का है। कुछ लोग डिवाइस थिएटर पर 'कमादिया दि आर्ते' का प्रभाव बतलाते हैं। यह इटली की एक लोक शैली है जिसमें समाज की विसंगतियों, आडम्बरों को हास्य-व्यंग्य के माध्यम से मनोरंजक ढंग से जनता के बीच प्रस्तुत किया जाता है। दारियाफो ने इस फोक फॉर्म को राजनीतिक अन्तर्द्वन्द्वों को सामने लाने में खूब इस्तेमाल किया। अपने हास्य से दमनात्मक प्रवृत्ति पर इतने तीखे रूप से तंज करते थे कि सरकार बौखला जाती थी। कई बार फाँसीवादी ताकतों द्वारा उन पर घातक, जानलेवा हमले भी हुए।

सम्भवतः इसी को नजर में रखकर नीलम मान सिंह चौधरी ने डिवाइस थिएटर को माध्यम बनाया। देश में फिर से साम्प्रदायिकता का जो माहौल बनाया जा रहा है, उसके लक्षण को पहचानते हुए रंगमंच में हस्तक्षेप करने के उद्देश्य से उन्होंने मण्टो की कहानियों का सहारा लिया हो। वैसे मण्टो की कहानियाँ हमेशा से रंगमंच के निर्देशकों को अपने कथ्य और विषय की प्रासंगिकता के कारण आकर्षित करती रही हैं। यही कारण है कि आज भी मंच पर सबसे अधिक उपस्थिति मण्टो की रही है। नीलम मान सिंह चौधरी को जब अन्तिम वर्ष के छात्रों के

साथ डिवाइस थिएटर से परिचय कराने का आमन्त्रण मिला तो उन्होंने मण्टो की कुछ प्रचलित कहानियों के माध्यम से ही इस नाट्य रूप को विश्लेषित करने में सहजता महसूस हुई। इसके लिए उन्होंने मण्टो की 'खोल दो', 'काली सलवार', 'ठण्डा गोश्त' जैसी चार-पाँच कहानियों को विभिन्न डिवाइस के साथ लगभग नब्बे मिनट की अवधि में पूरा किया। सारी कहानियाँ एक-दूसरे से जुड़ी हुई थीं। इनमें कोई विभाजन रेखा नहीं थी, न किसी डिवाइस के द्वारा बताने का प्रयास किया गया था कि नाटक का यह दृश्य उनकी किस कहानी का है। यह दर्शकों की कल्पना और उनकी बौद्धिकता पर छोड़ दिया गया था। उनकी प्रस्तुति में प्रबल

दृश्यात्मकता थी, दृश्य को जीवन्त करने के लिए जिस तरह के डिवाइस इस्तेमाल किये गये थे, वह दर्शकों को इतना सम्मोहित और चमत्कृत करता था कि अपना सुध-बुध खो बैठते थे। दीपन शिवरमन की जो सिनोग्राफी डिजाइन थी, दर्शकों को उत्सुकता से भर देती थी। अभिनय स्थल के मध्य भाग में बड़े से रिवॉल्विंग मंच पर फैले रेत व पानी पर मण्टो के पात्रों के द्वन्द्व को हरपाल सिंह, सतनाम सिंह, राम सिंह, गुरुमीत सिंह, बहादुर चाँद जैसे संगीत वादकों और गायकों ने ऊँचे स्वर में उभारा, वो थर्रा देने वाला था। कहने में कोई हिचक नहीं कि 'लेमन सोडा' दृश्यात्मकता में उत्कृष्ट डिवाइस नाटक था। लेकिन मण्टो की कहानियाँ अपनी जिस बेबाकी के कारण जानी जाती है, उसका सुर और स्वर कभी-कभी इतना तीखा हो जाता है कि पढ़ने और देखने वालों को हिला कर रख देता है। 'खोल दो' और 'ठण्डा गोश्त' का अन्त उनकी कहानी की जान है, पाठक पढ़ते सकते में पड़ जाता है। साम्प्रदायिकता पर ऐसे जोर का प्रहार करता है कि धार्मिक कट्टर शक्तियों का चेहरा बेनकाब हो जाता है। मण्टो ने उन ताकतों पर प्रहार करने के लिए ही कहानियाँ लिखी थीं। केवल पात्रों के प्रति संवेदना और हमदर्दी जताने के लिए नहीं। नीलम मान सिंह चौधरी का डिवाइस नाटक संवेदना जगाने में तो सफल है, लेकिन मण्टो की कहानी का जो उद्देश्य है उसे पूर्ण नहीं करता है। मण्टो की कहानियाँ व्यवस्था पर प्रहार करने से जरा भी नहीं चुकती हैं जबकि नीलम मान सिंह चौधरी इससे अपने को रोकती हुई दिखती है। ऐसा लगता है, व्यवस्था को टारगेट करने से बचना चाहती हैं। सम्भवतः उनके रंगमंच की यही वैचारिकी हो और व्यवस्था को उजागर करने से परहेज करती हो। इसका शायद एक कारण यह भी हो कि एन.एस.डी. भी वर्तमान में किसी सत्ता का एक हिस्सा है। और वर्तमान सत्ता की राजनीति और चरित्र क्या है, किसी से छिपा नहीं है?

इसी के समानान्तर शुभम् तिवारी का इन दिनों देश-भर में लगातार एक डिवाइस नाटक 'इण्डिया आफ्टर भगत सिंह' चल रहा है। पिछले दिनों इन्होंने इसका मंचन लखनऊ, बिलासपुर और दिल्ली में किया। सवा घण्टे के इस डिवाइस नाटक में मंच पर शुभम् तिवारी अकेले रहते हैं और भगत सिंह की न केवल कहानी दर्शकों को दिखाते हैं बल्कि उनकी क्रान्ति, प्रेम, शिक्षा, साम्प्रदायिकता, धर्म सम्बन्धी विचारधारा से दर्शकों से रू-ब-रू होते हैं। भगत सिंह का जीवन और संघर्ष इतना व्यापक है कि किसी भी ऐक्टर के लिए सवा घण्टे में समेटना आसान नहीं है। शुभम् तिवारी ने इस आख्यान को कहने के लिए डिवाइस थिएटर को एक माध्यम के रूप में चुना है। और इन्होंने इस कदर डिवाइस नाटक के रूप में ढाला है कि इसे नुक्कड़ नाटक की तरह कहीं भी किया जा सकता है। शुभम् तिवारी एक एक्टिविस्ट रंगकर्मी हैं इसलिए उनके सामने इस नाटक को करने का मकसद स्पष्ट है। उनकी विचारधारा शीशे की तरह साफ है। वे दर्शकों को किसी चमत्कारों व ऊल-जलूल रहस्यों में फँसाना नहीं चाहते हैं। वे डिवाइस का इस्तेमाल अपनी विचारधारा को खोलने के लिए करना चाहते हैं। अपनी सम्प्रेषणीयता को मजबूत करने के लिए करना चाहते हैं। इसे एकल के रूप में लिखा गया है और शुभम् तिवारी इसी रूप में करते भी हैं। डिवाइस के रूप में इस नाटक में एक बड़े-से परदे का इस्तेमाल किया गया है। इस पर भारतेन्दु कश्यप का बनाया हुआ जो चित्र है वो देश की आज की तस्वीर है। फाँसीवाद किस तरह हमारे देश में नंगे रूप में आ गया है और ताण्डव कर रहा है, छोटे-छोटे रेखांकनों द्वारा इंगित करता है। नाटक में कुछ भी छिपाने का प्रयास नहीं किया गया है और इसमें केवल भगत सिंह को हम नहीं देख रहे हैं, आज जो घट रहा है—धर्म और राष्ट्रवाद के नाम पर लोगों को किस तरह भाषा-प्रान्त-जाति के नाम पर कला-संस्कृति-साहित्य को किस तरह बनाता जा रहा है, शुभम् तिवारी अपने सशक्त अभिनय से दर्शकों तक पहुँचा पाने में सफल हैं। यह नाटक भगत सिंह की शहादत के बाद भारत के बदलते राजनीतिक और सामाजिक परिवेश को गहराई से खँगालता है। नाटक इस बात पर विचार करता है कि भगत सिंह की विचारधारा आज भी कितनी प्रासंगिक है और कैसे उनके नाम और आदर्शों का उपयोग विभिन्न राजनीतिक समूह अपने हितों के लिए करते हैं। यह प्रस्तुति भगत सिंह के विचारों को समकालीन दृष्टिकोण से समझाने का प्रयास करती है और आधुनिक भारत में उनके आदर्शों के दुरुपयोग को बेनकाब करती है। इसलिए नाटक की समाप्ति के बाद जब दर्शक अपने घर की तरफ लौटता है तो ठगा हुआ महसूस नहीं करता है।

डिवाइस थिएटर अगर नाटक को दर्शकों तक पहुँचने में कारगर सिद्ध हो, इससे ज्यादा महत्त्वपूर्ण भूमिका और क्या हो सकती है?

■

प्रेम-कहानी : पूरे का अधूरा रह जाना

जय प्रकाश

गोवा में हुए 'कथा समाख्या' में प्रेम कहानी पर केन्द्रित संवाद के दौरान बार-बार खयाल आता रहा कि प्रेम-कहानी को आखिर विषमलिंगी अनुराग की कहानी के रूप में ही क्यों देखा जाता है। दो व्यक्तियों, स्त्री और पुरुष, के युग्म में आकर्षण और अन्तरंगता की चाह जिस तरह की रूमानी भावना को उत्पन्न करती है, क्या वही प्रेम-कहानी की चौहद्दी निर्मित करती है? क्या लैंगिक पहचान के परे दो व्यक्तियों के बीच लगाव प्रेम नहीं है? अथवा मानवेतर प्राणियों-पशुओं-पक्षियों के प्रति प्रेम के आख्यान को क्या प्रेम-कहानी कहना अनुचित है?

शेखर जोशी की कहानी 'दाज्यू' आखिर क्यों प्रेम-कहानी नहीं है जिसमें ढाबे का ब्वॉय मदन वहाँ आने वाले ग्राहक जगदीश के प्रति गहरा लगाव रखता है, और उसकी उपेक्षा से मर्माहत होकर लगभग वैसा ही उलाहना-भरा व्यवहार करता है जैसा कोई मानवती प्रेयसी अपने प्रिय से करती है? रवीन्द्रनाथ की 'काबुलीवाला' की मिनी के लिए मेवे लेकर आये रहमत के जीवन में उस क्षण की क्या अहमियत रही होगी जब उसने कागज पर मिनी के नन्हें हाथ की छाप ली थी और कागज के उस मैले पड़ चुके टुकड़े को सीने से लगाये, बरसों सँभालकर रखा–मानो उस सुन्दर, नन्हीं बच्ची के हाथ का कोमल स्पर्श उसके हृदय में अमृत की धारा बहाता रहा हो। 'काबुलीवाला' कहानी भी तो प्रेम का एक भिन्न रूप प्रस्तावित करती है जिसमें मिनी की बालिका-छवि में रहमत को अपनी बेटी दिखाई देती है, और वह उसके प्रति पितृतुल्य स्नेह अनुभव करता है।

प्रेमचन्द की कहानी 'दो बैलों की कथा' में अभिव्यक्त प्रेम, क्या उसे प्रेम-कहानी कहने की सम्भावनाओं के आड़े आता है? गहरे मानवीय धरातल पर पशु और मनुष्य के प्रेम की पहचान करने वाली अद्‌भुत कहानी में हीरा और मोती दोनों पगहा तुड़ाकर रातों-रात अपने मालिक झूरी के घर आखिर किस प्रेरणावश लौट आये और आखिर क्यों दोनों की आँखों में प्रेमचन्द को 'विद्रोहमय स्नेह' की झलक दिखाई दी थी? और 'दाज्यू' के मदन की आँखों से क्या यही 'विद्रोहमय स्नेह' नहीं झाँक रहा था? या रहमत के हृदय में लहराता प्रेम का समुन्दर अपने उद्वेग में करुणा के किस छोर पर जा लगता है? फिर कृष्ण चन्दर के कालू भंगी को क्या कहेंगे जो पशुओं से बेइन्तहाँ मोहब्बत करता है; जो पूछने पर बता नहीं पाता और उल्टे पूछता है कि इश्क क्या होता है और कैसे किया जाता है; जिसकी ठण्डी मौत पर डॉक्टर साहब की गाय और कम्पाउण्डर की बकरी से दो रोज तक कुछ खाया-पीया न गया। कुर्रतुलऐन हैदर की कहानी 'डालन वाला' की बिल्ली रेशम आखिर किस लगाव के चलते सरोद सिखाने वाले सायमन की मौत के तीन दिन बाद तीसरे पहर, ऐन उसके आने के वक्त टोकरी के नरम गदेलों से उतरकर फाटक की तरफ लँगड़ाती हुई चली गयी और पुलिया पर बैठ कर इन्तजार में मसरूफ हो गयी। मण्टो की कहानी 'कुत्ते की दुआ' को किस तरह से याद किया जाना चाहिए जिसमें मालिक के बीमार पड़ने पर एक वफादार कुत्ते ने ऐसी दुआ माँगी कि मालिक तो ठीक हो गया, पर कुत्ता अपनी जान गँवा बैठा।

ये कहानियाँ सिर्फ यह सूचित नहीं करतीं कि वस्तुतः कहानी अपने स्वभाव से विडम्बनाओं का खेल रचती है, यह भी

लेखक हिन्दी के प्रसिद्ध आलोचक हैं।
+919981064205
jaiprakash.shabdsetu@gmail.com

बताती हैं कि प्रेम की अजस्र धारा में चरित्र ही नहीं, पाठक भी सराबोर होते हैं। तब फिर स्त्री-पुरुष के प्रेम से इतर दो मनुष्यों के बीच लगाव के वृत्तान्त को प्रेम-कहानी कहने में क्या अड़चन है?

अड़चन सम्भवतः प्रेम की उस सामान्य धारणा से है जो सामाजिक स्तर पर प्रेम को स्त्री-पुरुष के द्वैत से भिन्न किसी अन्य धरातल पर अवस्थित नहीं कर पाती। इसलिए माना यही जाता है कि स्त्री और पुरुष पात्रों के बिना प्रेम-कहानी सम्भव नहीं होती। समस्या यह है कि प्रेम-कहानी में सिर्फ स्त्री-पुरुष के युग्म की मौजूदगी पर्याप्त नहीं है, उनमें रोमान्स का होना भी आवश्यक है। मानो उनके बीच यही एकमात्र सम्बन्ध होता हो।

इस सरलीकृत धारणा में प्रेम की परिधि के विस्तार की बजाय संकुचन है। इससे इतर यदि विस्तार है भी तो उसमें इतनी व्यापकता है कि समूचा ब्रह्माण्ड–सम्पूर्ण चराचर सृष्टि उसमें समा जाये। इस रूप में तो प्रेम अपनी लौकिक सीमाएँ पार कर अलौकिक-आध्यात्मिक आयाम ग्रहण कर लेता है। वह भक्ति की सीमाओं में प्रवेश कर जाता है। क्या इस तरह से व्यापक धरातल पर अवस्थित हो कर प्रेम अपनी लौकिकता अथवा यथार्थता से वंचित नहीं हो जाता? यदि कहानी एक सेक्युलर विधा है–जो कि वह सचमुच है–तो आध्यात्मिक प्रेम से किनारा करने पर ही वह कहानी बनी रह सकती है। आधुनिक गद्य-विधा के रूप में कहानी के अस्तित्व में उसकी अकाट्य लौकिकता बद्धमूल है। कहानी ऐसी विधा है–निर्मल वर्मा के मुताबिक–जन्म के साथ ही 'जो अपने स्वर और परिवेश में पूर्ण रूप से सेक्युलर थी। उसने अपने-आपको एकबारगी समस्त पौराणिक और धार्मिक संस्कारों से मुक्त कर लिया था।' इसलिए एक आधुनिक गद्य-विधा के तौर पर कहानी जिस प्रेम का आख्यान रचती है, वह निस्सन्देह लौकिक अनुभव है।

लेकिन लौकिक स्तर पर प्रेम को रूपायित करने वाली ऐसी भी कहानी सम्भव है जो प्रेम के अनुभव को अध्यात्म के अनुभव की-सी गरिमा दे सके। शैलेश मटियानी की कहानी 'अर्द्धांगिनी' में व्यक्त प्रेम उस गरिमा को स्पर्श करता है। सूबेदार नैन सिंह अपनी स्मृतियों में सदैव विद्यमान सूबेदारनी के संग-साथ को महसूस करते हुए, फौज में हर दो-तीन साल बाद, छुट्टियों में गाँव लौटने पर जिस भावदशा से गुजरता है, बुनियादी रूप से लौकिक (सेक्युलर) होने के बावजूद वह दाम्पत्य की गहराई और प्रेम की सघन-सान्द्र अनुभूति के साथ आध्यात्मिकता की सीमारेखा के समीप जा पहुँचता है जहाँ सूबेदार और सूबेदारनी में परस्पर तन्मयता और एकात्मता सहज सम्भव प्रतीत होती है। कालिका और शिव के मिथक की व्यंजना में कहानी उसकी ओर संकेत भी करती है। यह कहानी प्रेम का एक भिन्न आयाम खोलती है जिसे महज दाम्पत्य-प्रेम कहकर अलग से चिह्नित कर देने से काम नहीं चल जाता। आज के सन्दर्भ में जहाँ स्त्री-पुरुष सम्बन्धों में तनाव और स्त्री के स्वतन्त्र व्यक्तित्व का आग्रह अत्यन्त प्रबल है, 'अर्द्धांगिनी' एक विक्षेप उत्पन्न करती है। वह प्रेम में परस्पर तन्मयता की कहानी है।

पिछले कुछ दशकों में पूँजी, बाजार और तकनीक के दबाव के कारण मानवीय सम्बन्धों में जिस तरह की दरार उत्पन्न हुई है, वह लगातार फैलती चली गयी है। इससे लोक-जीवन का प्रागाधुनिक ढाँचा छिन्न-भिन्न हो गया है। चार दशक पहले 'अर्द्धांगिनी' लिखी जा सकी थी, क्योंकि वह ढाँचा तब बचा हुआ था। आज जब वह बिखर गया है, 'अर्द्धांगिनी' को पढ़ें तो सम्भव है, उसमें चित्रित पात्रों में और उनके बीच प्रेम में ऐसी एकात्मता एकबारगी अनाधुनिक, इसलिए अविश्वसनीय, जान पड़े। उसमें यथार्थ की मात्रा कम और रूमान की अधिक लग सकती है।

प्रेम का अनुभव जो अपनी प्रकृति से ही रूमानी है, 'अर्द्धांगिनी' में परिपक्व अवस्था का, दाम्पत्य की गहराई का प्रेम है। उसमें तनाव नहीं, वायवीयता तो नहीं ही है, बल्कि तरलता और द्रवणशीलता है। उसकी रूमानियत लोक-अनुभव में प्रकृति और संस्कृति के समन्वित सूत्र में गुँथी हुई है। इसलिए उसकी लौकिक व्याप्ति ठोस जीवनानुभव के रूप में है। वह छायामयी स्वप्निल अनुभूति नहीं है। हालाँकि ऐसी भी कहानियाँ हो सकती हैं जिनमें रूमानियत एक क्षणजीवी स्वप्निल आवेग में कौंधती है और उसकी तड़ित छटा स्मृति में सदा के लिए अंकित हो जाती है।

इस कौंध को रमेशचन्द्र शाह की कहानी 'जानकी' में देखा जा सकता है, जहाँ वह किशोर कथानायक नब्बू को अपने से बड़ी उम्र की जानकी के प्रति अबूझ-सी आसक्ति उसे दीदी सम्बोधित करने से रोकती है और एक अन्ततः एक आवेग-भरे क्षण में प्रेम-निवेदन के लिए उसे विवश करती है। उस उद्विग्न क्षण के ग्लानि-बोध को नब्बू आजीवन सहेजकर रखता है, और जानकी भी, जिसके बारे में चालीस साल बाद नब्बू को पता लगता है कि उसने विवाह नहीं किया।

'कथा-समाख्या' में ही प्रेम के विविध रूप होने की सम्भावना से सर्वसम्मति थी। लेकिन उसे कथाकार उषा दशोरा ने रेखांकित किया। उन्होंने कहा कि प्रेम वह भी है, जो माली का अपने फूलों से, किसान का अपनी फसल से, अथवा गुरु का अपने शिष्य से होता है। उन्होंने इस प्रश्न को दूसरे कोण से भी देखा, प्रेम की व्यावहारिक चरितार्थता के कोण से। उन्होंने पुस्तकों और फिल्मों में प्रदर्शित प्रेम का जिक्र किया जो अक्सर त्याग, समर्पण और बलिदान के आदर्श से महिमामण्डित होता है। उनका प्रश्न था कि क्या ऐसा प्रेम सचमुच होता है? साहित्य और सिनेमा में वर्णित प्रेम में आखिर कितनी सच्चाई होती है? क्या ऐसा प्रेम वास्तविकता की जमीन पर वाकई अवतरित हो पाता है?

इसका उत्तर ढूँढ़ते हुए उन्होंने अपने दादा के प्रेम का स्मरण किया जो शकरकन्दी के मौसम में बाजार से नित्य शकरकन्दी लाया करते थे, और दादी कहती थीं कि 'उसकी' याद आ रही है। दादी का आशय उस स्त्री से था जो सुदूर अतीत में खोयी दादा की प्रेयसी थी, और जिसे शकरकन्दी बहुत पसन्द थी। 'उसकी' स्मृति दादा के भीतर शकरकन्दी के रूप में जागृत हो उठती थी। दिलचस्प है कि उसे लेकर दादी में कोई गाँठ न थी। इसलिए दादा के मन में उठती हिलोर का दादी ने कभी विरोध नहीं किया। उषा दशोरा ने दूर के रिश्ते के अपने एक ताऊ का भी जिक्र किया जिन्होंने अपनी बेटी का नाम अपनी

प्रेमिका के नाम पर रखा। कितना मार्मिक है कि अतीत के किसी कोने में छिपा प्रेम जिन्दगी-भर सालता रहता है।

शायद किस्से-कहानी का प्रेम यथार्थ नहीं होता, लेकिन दादा या ताऊ का प्रेम उनके जीवन का यथार्थ है–अधूरा, फिर भी यह वास्तविक है। किस्से-कहानियों के प्रेम की तरह उनके जीवन में भी प्रेम अपनी परिणति तक नहीं पहुँच पाया; अपूर्ण, अ-चरितार्थ रह गया–बल्कि स्मृतियों के मलबे में कहीं दबा रहा और शकरकन्दी की तरह के किसी प्रसंग के बहाने गाहे-ब-गाहे उसके भीतर से झाँकने लगा। प्रेम का यह आदर्शीकरण उसमें निहित मिथकीय सम्भावनाओं को जगा देता है। प्रेम अधूरा रह जाता है, मर नहीं जाता; अधूरा रह जाने को ही जैसे अभिशप्त है। शायद अधूरा रहकर ही वह पूरा हो पाता है। शायद अधूरा प्रेम ही किस्से में ढलने लायक हो पाता है। उसकी सार्थकता या चरितार्थता अधूरा रह जाने में है। पूरा हो जाने, लक्ष्य तक पहुँचने पर शायद प्रेम वही नहीं रह जाता जो आरम्भ में था। कालान्तर में शायद वह अपनी तीव्रता, उज्ज्वलता, आवेग और सौन्दर्य भी खो देता है। सम्भव है, पूर्णता को प्राप्त कर लेने पर प्रेम मर जाता है। वह जीवित तभी रह पाता है जब वह स्मृतियों में हो। उसकी धड़कन जब तक स्मृतियों में सुनाई देती है, वह अपना माधुर्य, अपनी कसक, अपनी सम्भवता को बचाये रखता है। फिर जीवन-भर जब-तब स्पन्दित होता रहता है अपनी समूची वेदना और माधुर्य के साथ। फिर इससे क्या फर्क पड़ता है कि अपने जन्म के क्षण में प्रेम अव्यक्त और अपरिभाषित रह जाये।

नॉर्वेजियन लेखक यूने फोस्सो की कहानी 'मैं तुम्हें बता नहीं सकता था' उस छूट चुके क्षण की स्मृति को पकड़ती है जो उसके कथानायक के जीवन में बरसों पहले कभी संयोगवश घटित हुआ था लेकिन उसकी अनुभूति अतीत की वर्तमानता में भीतर-भीतर, कण्डे में सुलगती हुई अग्नि की तरह बची रह गयी और किसी समय संयोग की हवा चलने पर जाग पड़ी। यह भी स्मृति में शेष रह गये अधूरे प्रेम का वृत्तान्त है। अपने जीवन के अन्तिम क्षणों में कथानायक उन क्षणों की स्मृति को वह एक 'दीप्तिमान आभास' के रूप में याद करता है, जब उसने स्कूल के अहाते को पार करते हुए उस लड़की को देखा और उसकी छवि मनस्पटल पर सदा के लिए अंकित हो गयी। वह कल्पना में उस क्षण को याद करता है कि वह स्कूल की कैंटीन में टेबल के एक छोर पर बैठी है और उसकी आँखों में कुछ है जो नायक के दिल में गहरे तक उतर आया है। उस क्षणिक दीप्ति को कथानायक ने अपने जीवन के अन्तिम पल तक सँजोकर रखा है।

इस अमूल्य क्षण को चेखव की कहानी 'एक छोटा-सा मजाक' की नायिका नाद्या भी आजीवन सुरक्षित रखती है। 'कथा समाख्या' के अपने वक्तव्य में कथाकार योगेन्द्र आहूजा ने इस कहानी की नायिका नाद्या को याद किया, जिसे पहाड़ी की बर्फीली फिसलन में स्लेज से उतरते हुए अधबीच में उसका प्रेमी भय से पीली पड़ गयी अपनी प्रेमिका को धीरे-से कहता है–''मैं तुम्हें प्यार करता हूँ, नाद्या!'' यह वाक्य जैसे नाद्या के समूचे अस्तित्व को एक नये अर्थ की उजास से आलोकित कर देता है। नाद्या उन शब्दों को बार-बार सुनना चाहती है। अपने डर और खतरे के बावजूद पहाड़ की ऊँचाई से फिसलने का दूसरी और तीसरी बार आग्रह करती है, फिर भी अतृप्त रह जाती है। नायक के कहे गये शब्दों का उसे नशा हो आता है। बाद में फौजी अफसर पति और तीन बच्चों के साथ सुखी जीवन जीते हुए भी नाद्या उस समय को कभी भूल नहीं पाती, न ही उन शब्दों के नशे से मुक्त हो पाती है। उस क्षण को वह जीवन की सबसे सुखद, मार्मिक और खूबसूरत स्मृति के रूप में सहेजे रखती है। उसका अधूरा प्रेम उसे सदैव पूर्णता के एहसास से भर देता है।

कैसी विडम्बना है कि प्रेम पूर्णता के समीप ले जाता है लेकिन स्वयं अपूर्ण रह जाता है।

जीवन का वह अमूल्य-अनुपम क्षण जो स्मृति में कहीं अटका रह गया है, और जहाँ प्रेम चरितार्थ होता है–आकस्मिक, अनायास और अनपेक्षित होता है। सहसा वह यूँ प्रकट होता है मानो नियति उसे वहाँ खींच ले आयी हो। जगदम्बा प्रसाद दीक्षित की कहानी 'मुहब्बत' का नायक अधेड़ फूलाबाई के प्रेम-निवेदन को एकाधिक बार ठुकराने और उससे लगभग वितृष्णा के बावजूद अन्ततः उस अप्रत्याशित क्षण की चपेट में आ ही जाता है, जब फूलोबाई की दशा मानो नियतिवश उसे मानवीय करुणा के एक सघन बिन्दु पर ला छोड़ती है। अकस्मात् जाग उठी यह करुणा फूलाबाई के प्रति कथानायक की वितृष्णा को सोख लेती है, और एक ऐसा अनुभव रचती है जो प्रेम के बेहद करीब है।

यह सब सोचते हुए खयाल आया कि जीवन में इतनी विविधता है और कालगति कुछ ऐसी अबूझ है कि परिस्थिति, परिवेश और सामाजिक संसर्ग के अनेकानेक रूपों में प्रेम कई-कई मोड़ से गुजरता है। वह मानवीय अनुभव की विविध अभिव्यक्तियों में–संस्मरणों, इतिहास के वृत्तान्तों, लोक-आख्यानों, दन्तकथाओं, मिथकों और स्मृति के वर्तुलों में मौजूद है, और सदियों से प्रकट होता रहा है। आधुनिक कथा-कहानी में उसकी अभिव्यक्ति के कुछ तयशुदा पैटर्न हो सकते हैं–जैसी यही कि आत्मत्याग के द्वारा उसे आदर्शीकृत कर दिया जाये, या प्रेमी-प्रेमिका के हृदय की मूक अभिव्यक्ति का कोई सौम्य-सन्तुलित प्रसंग रच दिया जाये–लेकिन प्रेम के व्यक्त होने की अन्तहीन सम्भावनाओं और विधियों के होने से इनकार नहीं किया जा सकता। कहने की आवश्यकता नहीं कि प्रेमाख्यान के अनेक रूप सभी संस्कृतियों में मिलते हैं। 'प्रेम के कई चेहरे' हो सकते हैं, जैसा कि रामकुमार तिवारी ने नवीन सागर की एक काव्य-पंक्ति के हवाले से कहा।

एक चेहरा चेखव की कहानी में ओलेंका का है जो प्रेम के बिना रह नहीं सकती लेकिन हर प्रेम में अन्ततोगत्वा विफल रहती है। पिता, रिश्ते की मौसी, ड्रामा कम्पनी के मैनेजर, लकड़ी कारखाने का मैनेजर, पशु चिकित्सक, उसके बेटे शासा–सबसे निश्छल मानवीय लगाव से जुड़कर भी अन्ततः छूँछी रह जाती है। अहेतुक प्रेम आखिर और क्या होता है? प्रेम में ओलेंका का पूरा डूब जाना, फिर भी अधूरा रह जाना। ओलेंका का प्रेम कोई नहीं समझ पाता। यही उसकी विडम्बना है।

■

हिजबुल्लाह - राज्य के भीतर का राज्य

धीरंजन मालवे

मध्य-पूर्व में जारी मौजूदा संकट और अशान्ति के लिए जिम्मेदार पहलों में एक प्रमुख नाम 'हिजबुल्लाह' का भी है। 'हिजबुल्लाह' यानी 'अल्लाह का दल'। यह लेबनान स्थित शिया मुसलमानों का एक संगठन है जो पिछले चार दशकों से भी अधिक समय से इजरायल के साथ संघर्षरत है।

हिजबुल्लाह का वास्तविक चरित्र क्या है इस पर अलग-अलग मत हो सकते हैं। इजरायल, अमेरिका और योरोपीय संघ के देशों के अनुसार हिजबुल्लाह एक आतंकवादी संघटन है। सउदी अरब, बहरैन और संयुक्त अरब अमीरात जैसे मुस्लिम देश भी ऐसा ही सोचते हैं। मगर हिजबुल्लाह स्वयं को एक संघर्षशील आन्दोलनकारी संघटन के रूप में देखता है जो इजरायल के अत्याचारों और अवैध कब्जों के विरुद्ध लड़ाई लड़ रहा है। अगर हम हिजबुल्लाह का संगठनात्मक चरित्र देखें तो पाएँगे कि इसका दोहरा चरित्र है। अपने एक रूप में यह लेबनान में एक राजनीतिक दल है। यह वहाँ चुनावों में अपने उम्मीदवार खड़े करता है और सरकार में भी इसकी भागीदारी रहती है। अपने दूसरे रूप में यह एक सैन्य संगठन है। हिजबुल्लाह स्वयं में कोई देश नहीं है लेकिन इसके पास जिस प्रकार की सैन्य शक्ति है वैसी अनेक देशों के पास भी नहीं है। विशेषज्ञों का मानना है कि हिजबुल्लाह की सैन्य शक्ति इसके अपने देश लेबनान की राष्ट्रीय सैन्य शक्ति से कहीं अधिक है।

हिजबुल्लाह एक प्रकार से राज्य के भीतर स्थित एक अनौपचारिक राज्य है जो मुख्य राज्य से कहीं ज्यादा ताकतवर है। यानी वह देश की सरकार के ऊपर सभी प्रकार के गलत या सही दबाव बना सकता है और अपनी बात मानने के लिए बाध्य कर सकता है। चूँकि यह लेबनान के शियाओं का संगठन है और उन्हीं के हितों की बात करता है अतः देश की बाकी जनता में इनकी लोकप्रियता लगातार गिरती रही है। देश में शियाओं की आबादी सत्ताईस प्रतिशत है। सत्ताईस प्रतिशत सुन्नी हैं। बाकी छियालीस प्रतिशत में ईसाई तथा अन्य हैं। देश की बाकी आबादी के बीच, विशेषरूप से गैर-मुस्लिम आबादी के बीच हिजबुल्लाह को लेकर असन्तोष बढ़ता रहा है। उन्हें लगता है कि हिजबुल्लाह की वजह से इजराइल द्वारा लेबनान पर जो लगातार हमले हो रहे हैं उनका नुकसान उन्हें भी उठाना पड़ रहा है।

हिजबुल्लाह वास्तव में ईरान का छद्म रूप है। 1979 में जब ईरान में वहाँ के शाह की सत्ता को पलटकर मौजूदा कट्टरपन्थी शियाई धार्मिक सत्ता आयी तो उसकी अपनी महत्त्वाकांक्षाएँ थीं। वह ईरान को एक प्रमुख विश्व शक्ति बनाना चाहती थी और उसका इरादा शुरू से ही मुस्लिम जगत पर अपना वर्चस्व स्थापित करना रहा है। इस सिलसिले में अरब जगत, खासकर मध्य-पूर्व को अपने सम्पूर्ण प्रभाव-क्षेत्र का हिस्सा बनाना ईरान की विदेश नीति का अंग रहता आया है। चूँकि मध्य-पूर्व लम्बे समय से अमेरिका के प्रभाव-क्षेत्र का हिस्सा रहता आया है अतः अमेरिका से उसके हितों का टकराव स्वाभाविक रहा है। ईरान अमेरिका को शैतान कहता है। चूँकि इजरायल अमेरिका द्वारा समर्थित देश है अतः उसे ईरान छोटा शैतान कहता है। ईरान का मानना है कि अगर इजरायल को नेस्तनाबूद कर दिया गया तो मध्य-पूर्व में अमेरिकी प्रभाव को समाप्त करने और अपना वर्चस्व स्थापित करने में अधिक देर नहीं लगेगी। फिर तो बाकी इस्लामी देशों और शेष विश्व पर भी ईरान का सिक्का जम जाएगा। यानी इजरायल की बर्बादी ईरानी विदेश-नीति का एक प्रमुख अवयव है।

यहाँ कठिनाई यह है कि ईरान की सीमा इजरायल से कहीं पर भी नहीं लगती। फिर उसकी जमीनी घेराबन्दी कैसे की जाये। साथ ही पूरे मध्य-पूर्व में अपने वर्चस्व का विस्तार कैसे किया जाये। इसके लिए ईरानी रणनीतिकारों ने प्रतिरोध की धुरी की संकल्पना की है और अलग-अलग सैन्य गुटों को अपना समर्थन और सहायता देते हुए उन्हें अपने देश के राजनैतिक और सैन्य शक्ति विस्तार के रूप में तैयार कर दिया है। कहने को तो इन सैन्यगुटों के अपने स्थानीय मुद्दे हैं मगर वास्तव में ये ईरान के ही छद्म सैन्य रूप हैं। इनका संचालन परदे के पीछे से और कई बार

हिजबुल्लाह वास्तव में ईरान का छद्म रूप है। 1979 में जब ईरान में वहाँ के शाह की सत्ता को पलटकर मौजूदा कट्टरपन्थी शियाई धार्मिक सत्ता आयी तो उसकी अपनी महत्त्वाकांक्षाएँ थीं। वह ईरान को एक प्रमुख विश्व शक्ति बनाना चाहती थी और उसका इरादा शुरू से ही मुस्लिम जगत पर अपना वर्चस्व स्थापित करना रहा है। इस सिलसिले में अरब जगत, खास कर मध्य-पूर्व को अपने सम्पूर्ण प्रभाव क्षेत्र का हिस्सा बनाना ईरान की विदेश नीति का अंग रहता आया है।

लेखक बीबीसी में प्रसारणकर्मी एवं प्रसार भारती के पूर्व उच्चाधिकारी रहे हैं।
+919810463338
dhiranjan@gmail.com

सामने से भी, पूरी तरह से ईरान के हाथ में है। ये सैन्य गुट हैं, गाजा में हमास, यमन में हुथी और लेबनान में हिजबुल्लाह। इनके अलावा इराक और सीरिया में भी ईरान समर्पित और सम्पोषित सैन्य गुट हैं जो इसके इशारों पर काम करते हैं। हिजबुल्लाह इन सभी गुटों में सबसे ताकतवर है। सैन्य विशेषज्ञ इसे बिना राज्य का दुनिया का सबसे ताकतवर संगठन बताते हैं। विशेषज्ञों के आकलन के अनुसार इसकी सेना में बिना राज्य साठ से पैंसठ हजार लड़ाके हैं जिनमें नियमित सैनिकों के अलावा रिजर्व सैन्य बल के सदस्य भी शामिल हैं। बताया जाता है कि इसके पास डेढ़ लाख मिसाइलों का जखीरा है। इनके अलावा इसके पास भारी संख्या में मशीनगनें, तोपें, विमानों को मार गिराने वाली बन्दूकें भी हैं। ये सभी अत्यन्त उन्नत और विकसित किस्म की हैं। अनुमान यह भी है कि हिजबुल्लाह के पास रासायनिक और जैविक हथियार भी हैं। विशेषज्ञों के अनुसार, सैन्य सहायता का सबसे बड़ा स्रोत ईरान तो है ही, सीरिया भी इजरायल को भरपूर सैन्य सहायता देता है। यह भी माना जाता है कि रूसी हथियारों को हिजबुल्लाह तक पहुँचाने का जरिया सीरिया ही है। सीरिया हिजबुल्लाह को किसी भी प्रकार की सैन्य सहायता देने की बात से इनकार करता है और कहता है कि ये झूठी और मनगढ़न्त बातें इसलिए फैलायी जाती हैं ताकि इजरायल को सीरिया पर सैन्य आक्रमण का बहाना मिल जाये।

हम अब हिजबुल्लाह के उद्भव की पृष्ठभूमि पर दृष्टिपात करते हैं। 1943 में हुए एक राजनैतिक समझौते के अनुसार लेबनान की राजनैतिक सत्ता का बँटवारा देश के तीन बड़े धार्मिक समुदायों के बीच किया गया था। इस समझौते के अनुसार यह तय हुआ था कि मैरोनाइट ईसाई देश का राष्ट्रपति बनेगा, सुन्नी मुसलमान प्रधानमन्त्री बनेगा और शिया मुसलमान लेबनानी संसद का अध्यक्ष रहेगा। शिया मुसलमानों की शिकायत रहती आयी थी कि सत्ता के इस बँटवारे में उनके साथ भेदभाव होता है।

उनके मन के अन्दर की टीस लम्बे समय तक अन्दर ही दबी रही। मगर उनके दिल में यह अहसास निरन्तर गहराता गया कि खास तौर पर सत्ताधारी मैरोनाइट ईसाइयों द्वारा उन्हें धीरे-धीरे हाशिये पर ढकेला जा रहा है। समय के साथ-साथ शियाओं के अलग-अलग प्रतिरोधी गुट उभरे जिनमें 1974 में उभरा अमल आन्दोलन प्रमुख नाम है। शिया मुसलमानों का आन्दोलन होते हुए भी यह अपने चरित्र में धर्म-निरपेक्ष था और इसे अन्य धार्मिक गुटों की सहानुभूति भी प्राप्त थी। एक अन्य उल्लेखनीय गुट इस्लामी छात्र संघ था जो आगे चलकर हिजबुल्लाह की बुनियाद बना।

उधर फिलिस्तीनियों के अधिकारों की रक्षा के लिए पी.एल.ओ. (पैलेस्टेनियन लिबरेशन आर्गनाइजेशन या फिलिस्तीनी मुक्ति संगठन) द्वारा इजरायल के विरुद्ध सशस्त्र संघर्ष चलाया जा रहा था। मगर इजरायल की ताकत के आगे इनका बहुत जोर चल नहीं पाया और इस वजह से फिलिस्तीनी शरणार्थी और लड़ाके बड़ी संख्या में दक्षिणी लेबनान आ गये। फिर पी.एल.ओ. ने तय किया कि वह इजरायल के विरुद्ध अपनी सशस्त्र संघर्ष वहीं से चलाएगा। समय के साथ पी.एल.ओ. लेबनान में अपनी ताकत बढ़ाता जा रहा था और एक प्रकार से वह लेबनान के भीतर 'राज्य के ही अन्दर राज्य' बन गया। उसे लेबनान के अन्दर के कई ऐसे वामपन्थी और इस्लामी गुटों का समर्थन प्राप्त था जो मैरोनाइट ईसाइयों के राजनीतिक वर्चस्व को नापसन्द करते थे। लेबनान में पी.एल.ओ. के निरन्तर पसरते पैरों को इजरायल ने एक खतरे के रूप में देखा। इजरायल चाहता था कि लेबनान का शासन मैरोनाइट ईसाइयों के हाथ में रहे, पी.एल.ओ. को लेबनान से खदेड़कर कहीं और शरण लेने को मजबूर किया जाये और मैरोनाइट ईसाइयों की सरकार के साथ उसका मैत्रीपूर्ण समझौता हो जिसके अन्तर्गत उसके विरुद्ध लेबनान की धरती का इस्तेमाल होने पाये।

इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए इजरायल ने पहले 1978 में और फिर 1982 में लेबनान पर आक्रमण किया। 1982 का आक्रमण अत्यन्त भीषण और विशालकाय था जिसने लेबनान में पी.एल.ओ. की जड़ें हिला डालीं। 1982 के इजरायल-लेबनान युद्ध में मैरोनाइट ईसाइयों का प्रतिरोध करने वाले कई छोटे-बड़े संगठन पी.एल.ओ. के साथ खड़े थे और इजरायल के साथ इसके संघर्ष में उसके साथ लड़ रहे थे। इन्हीं में से एक शिया संगठन, इस्लामी छात्र संघ तथा कई अन्य छोटे-छोटे शिया गुटों ने आपस में मिलकर एक बड़े संगठन का निर्माण किया और नाम दिया–हिजबुल्लाह।

हिजबुल्लाह के गठन में ईरान की महत्त्वपूर्ण भूमिका थी। जैसा कि हम पहले चर्चा कर चुके हैं कि हिजबुल्लाह ईरान की इस्लामी शिया कट्टरपन्थी सत्ता का ही विस्तार है और ईरान का ही एक छद्म रूप है। हिजबुल्लाह के गठन के लिए ईरान ने लेबनान में अपने डेढ़ हजार सैन्य प्रशिक्षक भेजे थे। इन प्रशिक्षकों ने कई लेबनानी शिया मुस्लिम गुटों को हिजबुल्लाह की छतरी के नीचे एकजुट करने में मदद की। 1985 में हिजबुल्लाह ने अपना घोषणा-पत्र जारी कर अपने मुख्य उद्देश्यों को रेखांकित किया था। ये उद्देश्य ईरान के घोषित उद्देश्यों की ही अनुकृति थे। उदाहरण के लिए–पूरे क्षेत्र से पश्चिमी प्रभाव को उखाड़ फेंकना, इजरायल का पूर्ण विनाश, ईरान के इस्लामी राजनैतिक आदर्शों को आधार बना कर लेबनान में इस्लामी शासन की स्थापना, इत्यादि। घोषणा-पत्र में यह भी कहा गया था कि हिजबुल्लाह ईरान के सर्वोच्च नेता के प्रति अपनी वफादारी के लिए वचनबद्ध है।

ईरान हिजबुल्लाह के संचालन के लिए नियमित मुहैया कराता रहा है। इसके अलावा हिजबुल्लाह लेबनान के व्यापारिक संगठनों, लेबनानी शियाओं पर लगाये गये करों, अफ्रीका में हीरों के खनन तथा विभिन्न इस्लामी संगठनों और कतिपय देशों से भी धन प्राप्त करता रहता है।

धन के अलावा हिजबुल्लाह को ईरान से प्रशिक्षण, हथियार, विस्फोटक एवं राजनीतिक, राजनयिक और संस्थागत सहायता तथा समर्थन प्राप्त होते रहते हैं। मगर आगे चलकर हिजबुल्लाह ने महसूस किया कि लेबनान जैसे धार्मिक बहुलता वाले समाज में केवल शिया इस्लामी आदर्शों के ही आधार पर व्यापक राजनैतिक समर्थन जुटाना कठिन होगा। इसीलिए 2009 के अपने घोषणा-पत्र में उसने अपना सुर बदला और धार्मिक और राजनैतिक आधार पर आपसी अलगाव का विरोध किया। साथ ही उसने विभिन्न गैर-इस्लामी संगठनों से अपील की कि आपसी भेदभाव भूलकर इस्लामी और गैर-इस्लामी संगठन एक हो जाएँ। स्पष्टतः यह सत्ता पर अपनी पकड़ को मजबूत बनाने की रणनीति का हिस्सा था क्योंकि हिजबुल्लाह की मूलभूत नीतियाँ अभी

(शेष पृष्ठ 45 पर)

परती परिकथा

एक नयी शब्दावली की जरूरत

हितेन्द्र पटेल

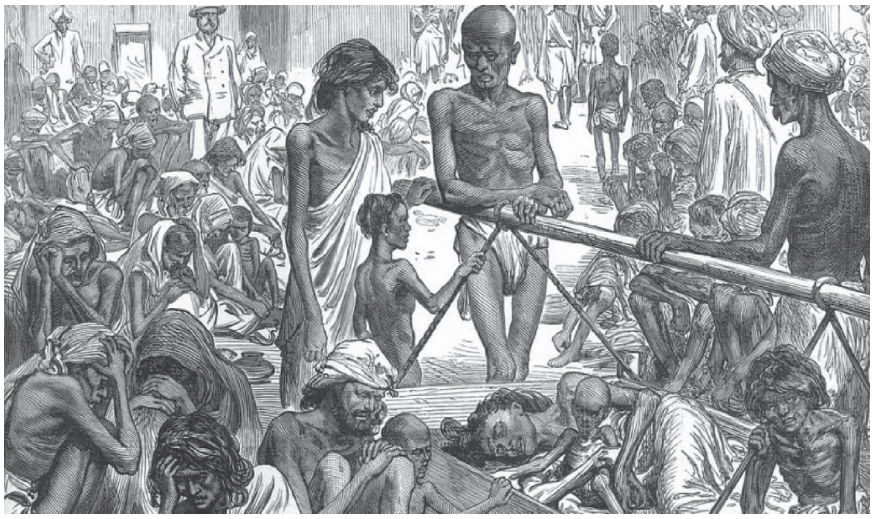

इन महत्त्वपूर्ण लोगों ने ही देश की बागडोर सँभालने वालों के साथ मिलकर 1947 के बाद अपनी स्थिति को मजबूत किया। कुछ समाजवादी छिटक गये। छिटकने वालों में दो महत्त्वपूर्ण नाम हैं—कृपलानी और राम मनोहर लोहिया। 1947 के बाद इस ग्रुप ने नेहरू को ताकत दी और नेहरू ने इनको ताकत दी। इस ग्रुप में यूरोप में शिक्षा पाये हुए कम्युनिस्ट भी थे जो मंच पर नेहरू के विरुद्ध बोलते थे लेकिन उनके साथ भीतर-ही-भीतर सहयोग भी रखते थे।

लेखक इतिहास के प्राध्यापक और विचारक हैं।
+919230511567
hittisaba@gmail.com

भारत आज से सौ साल पहले जैसा था उससे बहुत आगे निकल चुका है। बदलाव हर देश में हुए हैं, आखिर बीसवीं शताब्दी तो तेज बदलाव की ही शताब्दी थी। लेकिन कुछ देशों में बदलाव एक गुणात्मक अन्तर लिये हुए है। अगर पश्चिमी देशों की ओर देखें तो उनके बदलावों में एक किस्म की निरन्तरता देखी जा सकती है। एक कालखण्ड से दूसरे कालखण्ड तक की व्याख्या करते हुए एरिक हाब्सबाम ने एक सुन्दर किताब 'एज ओफ एक्सट्रीम' लिखी है। वे लिखते हैं कि उन्नीसवीं शताब्दी एक लम्बी शताब्दी थी जिसमें यूरोप फ्रान्स की क्रान्ति से लेकर प्रथम विश्वयुद्ध के बीच एक अद्‌भुत रूप से प्रगति करता हुआ एक बेहतर भविष्य की कल्पना कर रहा था। यह बहुत ही बेहतर शताब्दी थी जिसमें युद्ध पहले से बहुत कम हुए और विज्ञान ने अभूतपूर्व उन्नति की और दो महास्वप्नों उदार लोकतान्त्रिक, समाजवादी स्वप्नों ने जन्म लिया। दोनों के उत्स एक ही थे–अठारहवीं शताब्दी के बुद्धिवाद के उदय से उत्पन्न एक वैश्विक बोध और मोटे तौर पर दोनों ही आधुनिकता, वैज्ञानिक सोच और औद्योगीकरण में विश्वास करते थे एक के साथ दूसरे की लड़ाई थी लेकिन फिर भी एक संवाद था। एक संघात भी था लेकिन एक-दूसरे को नहीं समझते थे ऐसा नहीं था। अन्तर बस इतना था कि लिबरल चाहते थे कि सामाजिक और राजनीतिक शक्ति योग्य को मिले और राजसत्ता पर ऐसे समूह का नियन्त्रण हो जो अपने जिम्मेदारीपूर्ण को समझ सकें। लिबरल लोकतान्त्रिक थे और चाहते थे कि जो भी हो लोकतान्त्रिक पद्धति से हो। दूसरा सबको इसमें लाना चाहता था और उसे लगता था कि लोकतान्त्रिक पद्धति से यह सम्भव नहीं, क्योंकि सुविधा की स्थिति में रहने वाला वर्ग (बुर्जुआ) अन्य श्रेणियों–श्रमिक और कृषक समूहों के साथ समान अधिकारों के साथ रहने के लिए तैयार नहीं होगा। अन्तर बस यही था।

उन्नीसवीं शताब्दी का यह आशावाद पूँजीवादी प्रसार के कारण पूँजीवादी औद्योगिक देशों के बीच तनाव रचकर इस आशावाद को खत्म कर गया जब ये आपस में भयंकर युद्ध करने लगे और प्रथम यूरोपीय युद्ध (जिसके परिणाम पूरे विश्व पर होना तय था क्योंकि ये यूरोपीय देश पूरी दुनिया पर अधिकार किये हुए थे इसलिए इसको विश्वयुद्ध कहा जाता है) ले आये और महान यूरोपीय सभ्यता की नींद टूट गयी। समाजवादियों ने इसके पीछे पूँजीवाद को देखा और इसके लिए उन्हें दोष दिया। (लेनिन से लेकर रोजा लक्सम्बर्ग) दूसरी ओर उदारवादियों ने इसे एक दुर्घटना के रूप में देखा और अन्ध राष्ट्रवाद को इसके लिए दोषी बताया। जो भी हो जब अगले बीस वर्षों में स्थिति नियन्त्रित नहीं हुई और उससे भी भयंकर विश्वयुद्ध हुआ दोनों पक्षों ने जिसे इसके लिए जिम्मेदार ठहराया वह था फॉसीज्म। इस बिन्दु पर आकर रवीन्द्रनाथ ठाकुर की आलोचना का

स्मरण किया जाना चाहिए जिसे उन्होंने सभ्यता के संकट के रूप में देखा।

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद दोनों के बीच बिसात फिर से बिछायी गयी। इस समय तक आते आते दोनों ने एक-दूसरे को ठीक से पहचानना भी शुरू कर दिया था। रूस ने वैश्विक क्रान्ति के स्वप्न को अब लगभग त्याग दिया था और वह भी अब महाशक्ति की भूमिका में आ चुका था। उसके पास भी एक अन्तरराष्ट्रीय नेटवर्क था जो उसके इशारे पर काम करने के लिए तैयार था। इसके मुकाबले के लिए पूँजीवादी देशों ने कमर कस ली और पूरी दुनिया अमरीका के नेतृत्व में पूँजीवादी और रूस के नेतृत्व में कम्युनिस्ट समाजवादी खेमों में बँटती चली गयी। जो बँटने के लिए सीधे तैयार नहीं थे उनको सहायता में कुछ ऐसा मिलाकर दे दिया गया कि उनके बौद्धिक धीरे-धीरे एक या दूसरे के लिए जाने-अनजाने काम करने लगे। जो नहीं टिक सके वे अरुणा आसफ अली या अच्युत पटवर्द्धन हो गये, यानी रहे लेकिन जिनके रहने या नहीं रहने से कोई विशेष फर्क पड़ना नहीं था। बुद्धिजीवी और लेखक भी बँटने लगे। बुलावे इसी आधार पर आते थे। जिनके लिए इधर से आमन्त्रण आता था उनका नाम दूसरी तरफ कट जाता था। इस बँटवारे का प्रभाव पूरी दुनिया पर पड़ा।

भारत के इतिहास में इन सारी चीजों को कैसे देखा जाये इस पर अगर हम विचार करें तो पाएँगे कि इन सबका सीधा प्रभाव भारत पर पड़ा था। भारत इंग्लैण्ड का सबसे महत्त्वपूर्ण उपनिवेश था। एक बाजार और लेबर सप्लायर के रूप में इसकी बड़ी भूमिका थी। हाब्सबाम की 'इण्डस्ट्री और एम्पायर' की मानें तो ब्रिटेन की औद्योगिक क्रान्ति में सबसे बड़ी भूमिका उसकी कॉलोनी (मुख्यतः भारत) की ही थी। उन्नीसवीं शताब्दी में अँग्रेजों ने भारतीय में अपना एक पिट्ठू पूँजीपतियों (बिड़ला और टाटा) को भी खड़ा कर लिया था और यहाँ के मजदूरों को रहने लायक कठिनाइयों से भरे अपने अन्य उपनिवेशों में भेजकर सस्ते मजदूरों का संकट भी दूर कर लिया था। ऐसे में उन्हें अपने ऊपर निर्भर उपनिवेश को सभ्य बनाना भी ठीक लगा। यह वह दौर था जब लिबरल आशावाद को जरा भी आशंका नहीं थी कि कुछ दशकों बाद एक विश्वयुद्ध होने वाला है। भारत में एक वर्ग धीरे-धीरे आधुनिक शिक्षा की प्राप्ति कर रहा था और उनके लिए अँग्रेजी शासन के फायदे उठाने के मार्ग बन रहे थे। लन्दन और अन्य यूरोपीय देशों में रहकर ये अपने देश में सुधार लाने के लिए भी यत्न करने लगे। कुछ उनसे लड़ने की भी सोचने लगे। यहाँ बात द्वितीय विश्वयुद्ध के बँटवारे को लेकर हो रही है इसलिए बाकी बातों को छोड़कर इस बात की चर्चा ही की जा सकती है। 1917 के बाद से ही रूस की कम्युनिस्ट पार्टी का ध्यान इस ओर जाने लगा कि भारत में अपने लोगों को क्रान्ति के विस्तार के लिए लगाया जाये। इसी क्रम में वे एक पूर्व क्रान्तिकारी में इस सम्भावना को देखकर उसे अपने संरक्षण में ले गये और क्रान्तिकारी लोगों में अपनी पैठ बनाने लगे। अँग्रेज भी बेखबर नहीं थे। उन्होंने भी अपने जासूसों को तत्पर बनाये रखा। अधिकतर भेद-भेद नहीं रहते थे। एम.एन. राय ने जितनी चीजें की लगभग सबकी सूचना अँग्रेजों को होती रही। एक बार तो अँग्रेजों ने इस पूर्व सूचना का कैसे उपयोग किया इसको जानना बहुत ही दिलचस्प है। काँग्रेस के अधिवेशन में राय के भेजे हुए दूत अबनि मुखर्जी पूरा जोर लगा रहे थे कि चित्तरंजन दास गाँधी के साथ न जाकर अपना मोर्चा खोलें। वे उनकी बातें सुन भी रहे थे लेकिन इसी बीच अँग्रेज अधिकारियों के गुप्तचरों ने यह राज खोल दिया। इस योजना को अखबार में छपवाया गया और चित्तरंजन दास को लगा कि उन्हें अपने को इस कम्युनिस्ट षड्यन्त्र से अलग कर लेना चाहिए।

बीस के दशक की राजनीति को समझने की कोशिश करने पर यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि गाँधी के साथ कई अन्य राजनीतिक धाराएँ थीं और वे सभी अपने-अपने तरीके से जोर आजमाइश में लगी थीं। 1928 तक आते-आते काँग्रेस के भीतर के आन्तरिक तनाव सतह पर आ गये और पुरानी काँग्रेसी लीडरशिप को चुनौती मिली। इस बीच अन्तरराष्ट्रीय कम्युनिस्ट आन्दोलन भी अपने प्रयासों से भारतीय राजनीति में अपनी पैठ बनाने में लगा था। योजनाबद्ध तरीके से जवाहरलाल नेहरू को अपनी ओर लाने का प्रयास किया गया। अब तो दस्तावेजी सबूत हैं कि ब्रिटिश कम्युनिस्ट पार्टी के रजनी पाम दत्त के साथ नेहरू की बहुत लम्बी बातचीत ब्रुसेल्स में हुई थी। सीनियर नेहरू ने काँग्रेस के दफ्तर के रूप में आनन्द भवन को इस तरह तैयार कर लिया कि वह तमाम युवाओं-कम्युनिस्ट, सोशलिस्ट और नेहरू के विश्वस्त काँग्रेसी के लिए यह बड़ा केन्द्र बना। यह केन्द्र ही नेहरू परिवार को उस समय से एक 'सपोर्ट बेस' देता रहा। यहीं से काँग्रेस के भीतर नेहरू के विश्वस्त जिनमें से कुछ बाद में इन्दिरा गाँधी के विश्वस्त बने (प्राण नाथ हक्सर सबसे मुख्य व्यक्ति सिद्ध हुए)। यह एक ऐसा मजबूत बौद्धिक आधार नेहरू के साथ बना रहा जिसने हमेशा नेहरू के लिए काम किया। काँग्रेस के भीतर के इसी नेहरू के समर्थकों ने विभिन्न मोर्चों पर नेहरू की मदद की।

इन महत्त्वपूर्ण लोगों ने ही देश की बागडोर सँभालने वालों के साथ मिलकर 1947 के बाद अपनी स्थिति को मजबूत किया। कुछ समाजवादी छिटक गये। छिटकने वालों में दो महत्त्वपूर्ण नाम हैं—कृपलानी और राम मनोहर लोहिया। 1947 के बाद इस ग्रुप ने नेहरू को ताकत दी और नेहरू ने इनको ताकत दी। इस ग्रुप में यूरोप में शिक्षा पाये हुए कम्युनिस्ट भी थे जो मंच पर नेहरू के विरुद्ध बोलते थे लेकिन उनके साथ भीतर-ही-भीतर सहयोग भी रखते थे। इन लोगों के साथ देश के भीतर और बाहर बहुत सारे लोग थे।

यहाँ विस्तार में जाने का सुयोग नहीं है लेकिन इन नेहरूवादियों ने इमरजेन्सी तक के समय तक सत्ता में अपनी गहरी पैठ बनाये रखी। इसका इतिहास लोगों के सामने नहीं है वरना लोग जान पाते कि इन्दिरा गाँधी के साथ चलने वाले इन लोगों का कितना बड़ा प्रभाव राजनीति और प्रशासन में 1977 तक बना रहा। जनता पार्टी के आने के बाद इस ग्रुप को धक्का लगा लेकिन जल्दी ही इन्दिरा गाँधी की वापसी हो गयी और इन लोगों ने राहत की साँस ली। इन्दिरा गाँधी ने लौटने के बाद अपनी नीतियों को बहुत हद तक बदल दिया और इन लोगों का प्रभाव वैसा नहीं रहा जैसे हक्सर और नुरूल हसन के जमाने में था।

काँग्रेस तन्त्र के साथ मिलकर उच्च श्रेणी के लिबरल कहलाने वाले लोगों में उस जमाने के सभी बड़े नाम हैं। जो भी उनके साथ नहीं चला उसके लिए सत्ता की तरफ से कुछ भी नहीं आया चाहे वह राहुल सांकृत्यायन ही क्यों न हों! दिनकर की तूती बोलती थी और वे यशपाल का साहित्य एकेडमी पुरस्कार कटवा सकते थे यह कहकर कि उन्होंने अपने उपन्यास में नेहरू के प्रति आलोचनात्मक रवैया रखा। यह बात और है कि बाद में नेहरू के इस तन्त्र

से उनकी दूरी बनी और खुद नेहरू का अपना प्रभाव 1962 के बाद कम हुआ तो दिनकर ने खुद उनकी आलोचना की। कितने ही उदाहरण दिये जा सकते हैं।

जब पूरी दुनिया में ग्लोबलाइजेशन के बाद बड़े परिवर्तन होने लगे उस समय भी इस तरह के लोगों का प्रभाव बना रहा। बीच-बीच में जब प्रतिपक्ष की सरकार बनी तो थोड़े झटके लगे लेकिन पुराने लोगों की पाँत के लोगों का संस्थानों पर कब्जा बना ही रहा। इन लोगों ने अपने तरीके से ही अपने समाज को देखा और कभी भी सत्ता के विरुद्ध संघर्ष करने वाली शक्तियों को सहयोग नहीं दिया। ये अपनी जमीन से एक तरह से कट चुके लोग थे।

जब मोदी सरकार आयी तो एक नया समय शुरू हुआ जब सरकारी सहयोग एकदम से अवरुद्ध हो गया। मोदी सरकार बुद्धिजीवी विरोधी सरकार सिद्ध हुई और पिछले बारह वर्षों में देश की तस्वीर बदल गयी। जो लोग अब तक राजा बने घूम रहे थे उनको अब नयी स्थिति में बड़ी असुविधा हुई और अब तक हो रही है। जाहिर है अब इस बदली हुई परिस्थिति में जमीन पर असली लड़ाई लड़नी पड़ेगी अगर समाज में अपनी स्थिति को बचाये रखना है। चूँकि इस कठिन राह पर चलने का अभ्यास है नहीं इसलिए ये लोग चातक की भाँति इस उम्मीद में जी रहे हैं कि फिर वही पुराने अच्छे दिन लौटें। जिनको-जिनको लगने लगा है कि अब यही लोग रहने वाले हैं वे चोर दरवाजे से सत्ता तन्त्र के साथ साँठ-गाँठ में लगे हुए हैं।

इस नये समय में यह याद रखना होगा कि यह समय कितना भी कठिन हो अँग्रेजी हुकूमत से तो बेहतर है। अगर उस समय हमारे साहसी बौद्धिक तमाम खतरे उठाते हुए देश के लिए उसकी जनता की आवाज बन सकते थे तो आज भी बन सकते हैं। ईमानदारी से देश और समाज पर कलम उठाने वालों के लिए यह चुनौती भरा समय इसलिए भी है क्योंकि सत्तर-अस्सी सालों तक कलम उठाने वालों के सबसे बड़े लोगों ने सत्ता के साथ तालमेल बनाये रखकर काम किया। कुछ सच्ची बातों पर पर्दा भी डाला। उसको ठीक करने में और नये समय में रह रहे लोगों का विश्वास पाने में समय लगेगा। सत्तर-अस्सी सालों के असली इतिहास को लिखकर इस दिशा में एक पहल हो सकती है। देश को निश्चित रूप से इस समय जरूरत है खुलकर लिखने वालों की, जो इस समय के सवालों से टकराएँ और पीछे मुड़कर यह देखने की भी कोशिश करते रहें कि कहाँ-कहाँ कौन सी जरूरी बातें हम कह नहीं सके। एक नयी भाषा (इडियम) भी तैय्यार करने की जरूरत हो सकती है। भारत के एक लगभग भुला दिये गये विद्वान राजनेता हरेकृष्ण महताब ने गाँधी पर एक अद्‌भुत व्याख्यान साठ के दशक में आन्ध्र के एक विश्वविद्यालय में देते हुए इस बात का उत्तर दिया है कि गाँधी ने क्यों भारतीय जनता से संवाद करने के लिए धार्मिक शब्दावली (इडियम) का प्रयोग किया। उन्होंने कहा है कि गाँधी मानसिक स्तर के हिसाब से भाषा-प्रयोग करते थे। वे ऐसी भाषा बोलना चाहते थे जिसे भारतीय समझ सकें और उसे जीवन में उतार सकें। वे पिछले अस्सी सालों के विद्वानों से इस मामले में अलग थे ऐसा कहा जा सकता है क्या? हमारे विद्वान तो हिन्दी भी लिखते हैं तो लगता है कि वे अपनी भाषा ही भूल गये हैं!

क्या हम अपने इडियम को बदलने के लिए तैयार हैं? अगर होंगे तो निश्चित रूप से देश के लोग सुनेंगे भी और मानेंगे भी। ■

(पृष्ठ 42 का शेषांश)

भी वही हैं–पश्चिमी ताकतों को पूरे क्षेत्र से उखाड़ फेंकना और इजरायल का सम्पूर्ण विनाश।

इजरायल के विरुद्ध हिजबुल्लाह का संघर्ष अस्सी और नब्बे के दशक में कमोबेश चलता रहा। नयी सदी की शुरुआत में जब इजरायल ने लेबनान से अपनी सारी फौजें बुला लीं तब भी संघर्ष जारी ही रहा। इस छिटपुट संघर्ष ने 2006 में एक सम्पूर्ण युद्ध का रूप तब ले लिया जब हिजबुल्लाह ने इजरायल के सैनिकों पर आक्रमण कर तीन को मार डाला और दो को अगवा कर लिया। 34 दिनों तक चलने वाले इस युद्ध में इजरायल ने हिजबुल्लाह के सैनिक ठिकानों के साथ-साथ अन्य सामरिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण नागरिक ठिकानों को अपना निशाना बनाया। हिजबुल्लाह ने जवाब में उत्तरी इजरायल पर रॉकेटों से हमले किये और इजरायली फौजों को गुरिल्ला युद्ध द्वारा काफी परेशानी में डाला। इस युद्ध में हिजबुल्लाह के लिए अच्छी बात यह रही कि भारी नुकसान उठा कर भी वह एक संगठन के रूप में आगे के संघर्षों के लिए बचा रह गया।

मध्य-पूर्व के मौजूदा संकट में यह बड़ी भूमिका निभा रहा है। पिछले साल सात अक्टूबर को जब हमास ने इजरायल पर आक्रमण किया तो हिजबुल्लाह से ठीक दूसरे दिन, यानी आठ अक्टूबर से ही इजरायल के विरुद्ध अपना सैन्य अभियान शुरू कर दिया था। इजरायल ने इसी साल पिछले दिनों हमास को लगभग खोखला बनाने के बाद हिजबुल्लाह पर ध्यान केन्द्रित किया। पिछले सितम्बर महीने में उसने अत्यन्त आकस्मिक रूप में पेजरों और वॉकी टॉकी के माध्यम से वृहद पैमाने पर विस्फोटों को अंजाम दिया था। जिससे हिजबुल्लाह का नेतृत्व सन्न रह गया था। इन विस्फोटों से हिजबुल्लाह को झकझोरने के बाद इजरायल ने हिजबुल्लाह के शीर्ष नेताओं और सैन्य कमांडरों पर निशाना लगाकर हमले किये और उन्हें मौत के घाट उतार दिया। मारे गये हिजबुल्लाह नेताओं में सबसे बड़ा नाम इसके प्रधान सईद हसन नसरुल्लाह का है। लेबनान में हिजबुल्लाह के विभिन्न ठिकानों पर इजरायल के हमले निरन्तर जारी हैं और उन्हें गम्भीर नुकसान पहुँचा रहे हैं। इजरायल की योजना हिजबुल्लाह को नेस्तनाबूद कर उसके फन को पूरी तरह से कुचलने की है। इस प्रयास में इजरायल जी-जान से जुटा हुआ है। लेकिन इजरायल के इन सभी प्रयासों के बाद भी एक बड़ा प्रश्न अनुत्तरित रह जाता है। एक संगठन के स्थूल ढाँचे को तो विखण्डित किया जा सकता है लेकिन क्या इसके बाद भी उन विचारों, मान्यताओं और आदर्शों को भी पूर्णरूपेण विखण्डित कर पाना सम्भव है जो उसकी जड़ में हैं तथा उसे प्रेरित और संचालित करते हैं। अगर नहीं तो तुरन्त न सही, कुछ वर्षों के बाद उस संगठन के फिर से जीवित और जीवन्त हो जाने की सम्भावना बनी रह जाती है। हिजबुल्लाह ने लेबनानी शियाओं के बीच जैसी पैठ बना रखी है उसे देखते हुए यह सम्भावना काफी कुछ प्रबल दीखती है। ■

कविता पर ही लिखी जाती कविता

प्रियदर्शन

कविता इस मायने में साहित्य और विचार की दूसरी विधाओं से बहुत भिन्न है कि वह जितनी विधा है उतना ही विषय भी है। दुनिया के तमाम बड़े कवियों ने कविता पर भी कविता लिखी है। उपन्यास पर उपन्यास या कहानी पर कहानी लिखने के कुछ प्रयोग बेशक हुए होंगे, लेकिन लगभग हर कवि अपने जीवन में ऐसी कविता जरूर लिखता है जिसका विषय ही कविता होती है। राजेन्द्र यादव कभी-कभी इस बात का भी मजाक बनाया करते थे।

कविताओं पर केन्द्रित कविताएँ क्यों लिखी जाती हैं? क्या इसलिए कि कविता जितनी विधा है उतनी ही चीजों को देखने, समझने, महसूस करने की विधि भी है? लेकिन फिर किस विधा के भीतर यह विधि नहीं है? क्या कहानी और उपन्यास के बारे में भी हम ठीक यही बात नहीं कह सकते कि वह चीजों को देखने, समझने, महसूस करने की विधि भी है?

फिर कविता में वह क्या है जो एक विधा के रूप में बार-बार उसकी गुत्थियाँ खोलने को उकसाता है? कविता क्यों पुकारती है कि उस पर भी कविता लिखी जाये? जबकि कविता पढ़ने वाले कम होते जा रहे हैं, उसे समझने वाले और कम और कविता को बचाने-बढ़ाने का जतन करने वाले और भी कम।

नोबेल विभूषित पोलिश कवयित्री विस्वाबा शिम्बोर्स्का की एक छोटी-सी कविता कुछ इस तरह है–

''कुछ- / सबको नहीं, सबमें अधिकतर लोगों को भी नहीं / बल्कि बहुत कम लोगों को। / इनमें स्कूलों को नहीं गिन रही, जहाँ पढ़नी पड़ती हैं और खुद कवियों को भी। / हजार में दो लोग होंगे जो कविता पसन्द करते होंगे। / लेकिन किसी को चिकन सूप और नूडल्स भी पसन्द आते हैं, / किसी को तारीफें अच्छी लगती हैं और नीला रंग / किसी को पुराना स्कार्फ पसन्द है / किसी को दूसरों पर हावी होना, / किसी को कुत्ते को सहलाना। / मगर कविता / क्या है कविता? / इस प्रश्न के बहुत से डगमगाते हुए उत्तर दिये गये हैं / लेकिन मैं नहीं जानती नहीं जानती / और इसे पकड़े रहती हूँ / किसी टिकाऊ रेलिंग की तरह।''

तो एक नोबेल विभूषित कवि भी नहीं जानती कि कविता क्या है और क्यों कुछ लोग–बेहद कम लोग–उसे पसन्द करते हैं। लेकिन कविता उसे सहारा देती है। वह उसके लिए रेलिंग का काम करती है। यह रेलिंग कई तरह की हो सकती है–सीढ़ियाँ चढ़ते-उतरते वक्त, बालकनी से नीचे झाँकने की सुविधा देने वाली, गिरने से बचाने का भरोसा देने वाली, छतों और मुँड़ेरों पर एक आश्वस्ति देने वाली।

शायद कविता से कवि का यही रिश्ता उसे रचना का विषय बनाता है। कहानी का कहानीकार से अमूमन वैसा गहन रिश्ता नहीं होता कि दोनों एकाकार हो जाएँ। एक विधा के रूप में कहानी की मजबूरी यह है कि वह कथाकार की होते हुए भी उससे छिटक जाये और उसके चरित्र कथाकार से दूर चले जाएँ। वे नये अन्तर्द्वन्द्वों, नयी सम्भावनाओं में खुद को तलाशें। उपन्यास इस लिहाज से लेखक से लगातार दूर और विस्तृत होती विधा के रूप में विकसित होता है।

लेकिन कविता जैसे हमेशा अपने कवि का हाथ पकड़कर चलती है। वह बाहर की ओर फैलने से पहले भीतर की ओर उतरने

लेखक कवि, कथाकार एवं एनडीटीवी में वरिष्ठ कार्यकारी सम्पादक हैं।
+919811901398
priyadarshan.parag@gmail.com

वाली विधा है। धीरे-धीरे कवि ही कविता में ढलता जाता है–अपनी कविता से एकाकार हो जाता है। कविता उसका सहारा ही नहीं रहती, उसकी दृष्टि भी बन जाती है। वह दुनिया को कविता के लेंस से देखता है और कविता के भीतर उतरकर अपनी तरह की दुनिया बनाना चाहता है। शायद यही वजह है कि देर-सबेर उसे एक विषय के रूप में कविता तक आना पड़ता है। धूमिल की जो बहुत मशहूर और बहुत बार के दुहरावों के बावजूद अनुपेक्षणीय पंक्ति है, वह ऐसे मौकों पर तत्काल याद आती है–'कविता भाषा में आदमी होने की तमीज है।'

लेकिन 'भाषा में आदमी' होना क्या होता है? क्या भाषा के बाहर भी कोई आदमी होता है? ऐसे किसी व्यक्ति की कल्पना करें जिसके पास कोई भाषा न हो (मूक-बधिरों की भी भाषा होती है–मौन में व्यक्त होती हुई, पशुओं की भी भाषा होती है–बहुत सूक्ष्म संकेतों के भरी हुई) तो बहुत भयावह और डरावनी कल्पना ही उभर सकती है। सहसा हम पाते हैं कि जो भी है वह भाषा के भीतर है। इस बात पर कुछ और गहराई से विचार करें तो पाते हैं कि भाषा भी सिर्फ चीजों को नाम देने का, भावनाओं को व्यक्त और महसूस करने का माध्यम नहीं है, वह हमें हमारी मनुष्यता का सन्धान कराती है। भाषा से दूर जाकर हम कुछ कम मनुष्य हो जाते हैं–भाषा के पास आकर कुछ बेहतर मनुष्य बनते हैं। लेकिन फिर सवाल है–भाषा के पास कैसे आया जा सकता है? यहाँ फिर समझ में आता है कि जब आप भाषा की गहराई में उतर रहे होते हैं तो दरअसल कविता में उतर रहे होते हैं। धूमिल कहीं यह बात समझते हैं और इसीलिए कविता को भाषा में आदमी होने की तमीज मानते हैं।

हालाँकि इस बात को कुछ और ठीक से समझने की जरूरत है। क्योंकि भाषा, कविता और मनुष्यता के इस मेल में रोमानी अयथार्थवादी हो जाने का खतरा बहुत ज्यादा है। यह सच है कि भाषा के खेल बहुत सारे होते हैं, बहुत सारे छुपे और खुले शोषण और अत्याचार भाषा की मार्फत ही सम्भव होते हैं, भाषा की मार्फत ओछी राजनीति और संकीर्ण साम्प्रदायिकता को बढ़ावा देने का काम होता है और कई बार कविता को भी इस काम में साझेदार बनाने की कोशिश होती है। भाषा के आधार पर किसी के विशेषाधिकार तय होते हैं और किसी की सर्वहारिता। इतना ही नहीं, एक पूरी प्रक्रिया भाषा, कविता और शब्दों को अविश्वसनीय बनाने की चलती दिखाई पड़ती है जिसमें सच धुँधला होता जाता है और झूठ को सच के परिधान पहनाकर खड़ा किया जाता है। तो कविता का एक काम भाषा के साथ किये जाने वाले इस छल को उजागर करना–भाषा को उसकी प्रामाणिकता लौटाना भी है। उदय प्रकाश की चर्चित और बहुत मार्मिक कविता 'एक भाषा हुआ करती है'–खासकर हिन्दी के सन्दर्भ में भाषा के साथ हो रहे इस छल और अत्याचार को और इसके बावजूद इसके बचे रहने की जिद को बहुत तीव्रता से उभारती है–

'एक हौलनाक विभाजक रेखा के नीचे
जीने वाले सत्तर करोड़ से ज्यादा लोगों के
/ आँसू और पसीने और खून में लिथड़ी
एक भाषा / पिछली सदी का चिथड़ा हो
चुका डाकिया अभी भी जिसमें बाँटता है /
सभ्यता के इतिहास की सबसे असभ्य और
सबसे दर्दनाक चिट्ठियाँ / वह भाषा जिसमें
नौकरी की तलाश में भटकते हैं भूखे दरवेश
/ और एक किसी दिन चोरी या दंगे के जुर्म में
गिरफ्तार कर लिये जाते हैं / जिसकी लिपियाँ
स्वीकार करने से इनकार करता है इस दुनिया
का समूचा सूचना संजाल / आत्मा के सबसे
उत्पीड़ित और विकल हिस्से में जहाँ जन्म
लेते हैं शब्द / और किसी मलिन बस्ती के
अथाह गूँगे कुएँ में डूब जाते हैं चुपचाप /
अतीत की किसी कन्दरा से एक अज्ञात सूक्ति
को अपनी व्याकुल थरथराहट में थामे लौटता
है कोई जीनियस / और घोषित हो जाता है
सार्वजनिक तौर पर पागल...।'

तो कविता के नाम पर लिखी जाने वाली हमारे समय की बहुत सारी कविताएँ दरअसल एक तरफ इस वेदना और छटपटाहट की मारी मिलती हैं कि उनसे उनकी भाषा छीनी जा रही है और दूसरी तरफ भाषा और जीवन को उसकी प्रामाणिकता लौटाने की कोशिश में लगी दिखती हैं। यातना और कोशिश का यह मेल मुक्तिबोध-शमशेर में भी मिलता है और रघुवीर सहाय-श्रीकान्त वर्मा में भी। इससे बाहर कविता को किसी और तरह से बरतने की कोशिश पर बिफरते श्रीकान्त वर्मा कवियों को लेकर बहुत सख्त पंक्तियाँ लिखते हैं–मसलन, *'कवियों की ऐयाशी झूठ में / लिपटी वसुन्धरा'* या फिर *'बरस रहा है अन्धकार / मगर उल्लू के पट्ठे! / स्त्री रिझाऊ कविताएँ लिख रहे हैं।'*

लेकिन कवियों के भी अपने कर्तव्य होते हैं–निराशा में हों या आशा में। हिन्दी को अपनी हिचक भरी मद्धिम आवाज में कुछ बहुत मानवीय कविताएँ देने वाले मंगलेश डबराल की एक छोटी-सी कविता है–'स्पर्श बचा रहे'। वे लिखते हैं–

'मैं चाहता हूँ कि स्पर्श बचा रहे / वह
नहीं जो कन्धे छीलता हुआ / आततायी
की तरह गुजरता है / बल्कि वह जो एक
अनजानी यात्रा के बाद / धरती के किसी छोर
पर पहुँचने जैसा होता है / मैं चाहता हूँ स्वाद
बचा रहे / मिठास और कड़वाहट से दूर /
जो चीजों को खाता नहीं है / बल्कि उन्हें
बचाये रखने की कोशिश का / एक नाम है
/ एक सरल वाक्य बचाना मेरा उद्देश्य है /
मसलन यह कि हम इनसान हैं / मैं चाहता हूँ
इस वाक्य की सच्चाई बची रहे / सड़क पर
जो नारा सुनाई दे रहा है / वह बचा रहे अपने
अर्थ के साथ / मैं चाहता हूँ निराशा बची रहे /
जो फिर से एक उम्मीद / पैदा करती है अपने
लिए / शब्द बचे रहें / जो चिड़ियों की तरह
कभी पकड़ में नहीं आते / प्रेम में बचकानापन
बचा रहे / कवियों में बची रहे थोड़ी लज्जा।

तो कविता पर कविता लिखना असल में उस जीवन पर लिखना है जिसमें कवि खुद शामिल है।

■

कविता हमेशा अपने कवि का हाथ पकड़कर चलती है। वह बाहर की ओर फैलने से पहले भीतर की ओर उतरने वाली विधा है। धीरे-धीरे कवि ही कविता में ढलता जाता है—अपनी कविता से एकाकार हो जाता है। कविता उसका सहारा ही नहीं रहती, उसकी दृष्टि भी बन जाती है। वह दुनिया को कविता के लेंस से देखता है और कविता के भीतर उतरकर अपनी तरह की दुनिया बनाना चाहता है।

मन्दिरों में नहीं रह सकतीं आण्डाल

इतिहास

सुभाष राय

एक नवम्बर को मदुरै पहुँच गया। यह आण्डाल के देस में उनके पदचाप, उनकी देह-गन्ध खोजने की यात्रा थी। मैंने जो किताबों में पढ़ा था, उसे देखना था और जो नहीं पढ़ा था, उसे महसूस करना था। आण्डाल विष्णुचित्त के घर पली-बढ़ी, बड़ी हुईं, युवा के रूप में अत्यन्त सुन्दर। बड़े सघन केशों, विस्फारित आँखों और अभंग चितवनवाली। वे स्वयं कहती हैं अपने सौन्दर्य के बारे में, छिपाती नहीं। इसी मदुरै से होकर वे श्रीरंगम गयी थीं, श्रीरंग से शादी रचाने।

लेखक जनसन्देश टाइम्स के प्रधान सम्पादक हैं।
+919455081894
raisubhash953@gmail.com

मैं आण्डाल के विरल जीवन संगीत, उनकी रचनाओं के उत्तेजक मर्मभेदी स्वर की गहरी गूँज से भीतर तक भरा हुआ था। आठवीं-नवीं शताब्दी में आधुनिक समय-बोध का समकालीन जीवन संगीत, भयानक अन्धकाल में एक महान स्त्री की प्रखर मुक्ति ध्वनि और उसकी परम्परा भंजकता मुझे दक्षिण के उस भव्य आभीर लोक की ओर खींच रही थी, जहाँ आण्डाल ने 12 सौ बरस पहले जन्म लिया था। मदुरै से मैं श्रीविल्लीपुथूर जा रहा था। वहीं अपनी पुष्पवाटिका में विष्णुचित्त को आण्डाल मिली थीं। एक अनाथ, अनाम बच्ची की तरह। विष्णुचित्त उन 12 आलवार सन्तों में से एक थे, जिन्होंने छठीं से नवीं शताब्दी के बीच छिड़े भक्ति आन्दोलन के दौरान दक्षिण के देह-मन को भक्ति के परमोल्लास से भर दिया था, जिन्होंने समाज में व्याप्त परम्परावादियों की बौद्धिक और शुष्क लोकोत्तर जड़ता के विरुद्ध लोक-स्वर में परम सत्ता के गीत गाये और लोगों को गलियों में, पगडण्डियों पर, घरों में नाचने-गाने और जीवन के आन्तरिक संगीत को महसूस करने के लिए प्रेरित किया था।

मैं एक नवम्बर को मदुरै पहुँच गया। यह आण्डाल के देस में उनके पदचाप, उनकी देह-गन्ध खोजने की यात्रा थी। मैंने जो किताबों में पढ़ा था, उसे देखना था और जो नहीं पढ़ा था, उसे महसूस करना था। आण्डाल विष्णुचित्त के घर पली-बढ़ी, बड़ी हुईं, युवा के रूप में अत्यन्त सुन्दर। बड़े सघन केशों, विस्फारित आँखों और अभंग चितवन वाली। वे स्वयं कहती हैं अपने सौन्दर्य के बारे में, छिपाती नहीं। इसी मदुरै से होकर वे श्रीरंगम गयी थीं, श्रीरंग से शादी रचाने। उनके जन्मस्थान की ओर जाते हुए मेरे मन में तमाम खयाल आ रहे थे। अपने समय की परम्परा को, समाज को, आचार्यों को, स्वयं अपने पिता को चुनौती देने वाली एक अनुपम मेधावी युवती को आखिर मन्दिर में क्यों बिठा दिया गया है? उसकी पूजा-अर्चना क्यों हो रही है? मेरा मन तो उस पुष्पवान को देखने का था, जिसमें वह शिशु कन्या विष्णुचित्त को मिली थी। मैं उस घर को देखना चाहता था, जिसमें उसका पालन-पोषण हुआ था। वह जंगल मेरे मन में बसा था, जिसमें वह अपने प्रिय किशन का पीछा करती रहती थीं, उसकी शरारतों के लिए उसे डाँटती-फटकारती रहती थीं। पर मैं निराश हुआ। वह तुलसीवन अब नहीं है, वे जंगल भी विकास की भेंट चढ़ गये। वह आण्डाल भी अब किताबों में हैं, मन्दिर में तो बस उनकी मूर्ति है, जो बोलती नहीं, जो चहकती नहीं, जो हिलती-डुलती नहीं।

मैं श्रीविल्लिपुथूर पहुँच गया। मदुरै से डेढ़ घण्टे दूर है यह नगर। यहाँ वटपत्रशायी का मन्दिर है, जहाँ आण्डाल के पोषक पिता विष्णुचित्त यानी पेरियालवार कभी प्रधान पुजारी हुआ करते थे। उसी से सटा हुआ आण्डाल का मन्दिर है। आण्डाल के लिए तमिलनाडु में बनने वाला यह पहला पृथक मन्दिर था। 16-17वीं शताब्दी में नायक राजाओं ने इसे बनवाया। मन्दिर में प्रवेश कर

मुझे बहुत खुशी नहीं हुई। मैं सोचता रहा सारे बन्धनों को तोड़ फेंकने वाली, मुक्त और अबाध प्रेम के गीत गाने वाली एक महान स्त्री को किस कैद में डाल दिया गया है। मन बहुत दुःखी हुआ।

असल में वैदिक काल से आज तक स्त्रियों के लिए मुक्ति की गम्भीर प्रस्तावना कभी नहीं हुई। उन्हें लगातार दबाया गया, प्रताड़ित किया गया, अधिकार वंचित करके रखा गया। अधिकांश स्त्रियों ने इस दमन को नियति मानकर इसे स्वीकार कर लिया। जिन्होंने इसका विरोध किया, उन पर और अत्याचार किये गये, उन्हें चुप कराने के हर सम्भव उपाय किये गये, उनकी हत्याएँ भी की गयीं। फिर भी सारी स्त्रियों ने कभी पुरुषों की गुलामी स्वीकार नहीं की। हर काल में जलती मशालों की तरह अनेक ऐसी स्त्रियाँ दिखाई पड़ती हैं, जिन्होंने समाज में बराबर के अधिकार के लिए जूझने का संकल्प किया। पुरातनपन्थी समाज से सीधे लड़ना बहुत आसान नहीं था, इसलिए उन्होंने भक्ति की राह पकड़ी। अपने इर्द-गिर्द एक काल्पनिक छाया निर्मित की, अपना भगवान गढ़ लिया और निकल पड़ीं उसकी महिमा के गीत गाते हुए। अपने समूचे कट्टरपन के बावजूद हमारा समाज हमेशा भगवानों से डरता आया है। एक ऐसी स्त्री को रोकना, छेड़ना मुश्किल होता है, जो अपनी अव्यक्त भगवत्तामय फैण्टेसी के साथ बाहर निकल आयी हो। ऐसी प्रतिभावान स्त्रियों को, जिन्हें पराजित करना असम्भव था, पुरुषों ने मूर्तियों में बदल दिया, उन्हें मन्दिरों में ला बिठाया। उनकी पूजा शुरू कर दी।

आण्डाल की भी यही दुर्गति की गयी। मैं मन्दिर के गर्भगृह में था। वहाँ पुजारी से पूछा, ''यहाँ किसी दीवार पर आण्डाल के नाम विष्णु द्वारा लिखा गया कोई 'प्रणय-पत्र' अंकित है, बताएँगे, वह कहाँ है?'' वह भूमा, भूमा से ज्यादा कुछ कह नहीं पा रहा था। मैंने पूछा, ''क्या विष्णुचित्त का तुलसीवन यहीं है? किधर है वो?'' वह अपने हाथों में दूर्वा और जल लिये बड़ी-बड़ी आँखों से मुझे घूर रहा था। शायद सोच रहा हो, ''यह कौन आ गया। यह दर्शन से सतुष्ट नहीं है, इसे भूमा से भी ज्यादा कुछ और चाहिए।'' मैं समझ गया, यह सिर्फ पुजारी है, इसे आखिर कैसे पता होगा। लेकिन पंक्ति में खड़ी एक साँवली लड़की को मेरे सवालों में दिलचस्पी नजर आयी। वह 'प्रणय-पत्र' के बारे में तो कुछ नहीं बता पायी लेकिन उसने बताया कि इस भवन के चारो ओर कुछ वनस्पतियाँ, कुछ पुष्प-लताएँ आप देख सकते हैं। यहीं आण्डाल का जन्म हुआ था।

मैं ढूँढ़ रहा था पुराने शिलालेख, जिसके बारे में मैंने पढ़ रखा था। मदुरै के चोल, पाण्डय और नायक राजाओं ने तमिलनाडु में वास्तुकला को अपने शिखर तक पहुँचाया। वे अधिकांश कला-साहित्य प्रेमी थे। कुछ तो स्वयं भी बड़े साहित्यकार थे। छठीं शताब्दी के बाद राज्याश्रय में ही मदुरै कला और साहित्य के महान केन्द्र के रूप में विकसित हो चुका था। यहाँ जैन और बौद्ध विद्वानों का जमावड़ा था। महान बौद्ध दार्शनिक दिंनाग और बोधिधर्म भी यहाँ कुछ समय के लिए रहे। जैन आचार्यों ने आपसी परामर्श के लिए इसी शहर में 'संगम' केन्द्रों की स्थापना की, जहाँ जैन कवि, लेखक आचार्य जुटते थे और धर्म एवं साहित्य की चर्चा करते थे। ऐसे तीन संगमों का उल्लेख मिलता है। आखिरी संगम काल में रची गयी रचनाओं का ही कुछ अंश अब प्राप्त है। बाकी साहित्य संकलन और संरक्षण के अभाव में नष्ट हो गया। इन साहित्य गोष्ठियों को संरक्षण देने वाले राजाओं ने सुन्दर कलात्मक शिल्प के साथ अनेक मन्दिर बनवाये और मन्दिरों में जगह-जगह शिलाओं पर अपने समय के साथ तत्कालीन गतिविधियों के बारे में सूचनाएँ अंकित कीं। मैं वटपत्रशायी और आण्डाल के मन्दिरों की भीतरी भित्तियों की पूरी पड़ताल कर चुका था। कहीं कुछ नजर नहीं आया। निराश बाहर निकल आया। फिर अचानक अन्तःप्रेरणा हुई कि बाहर की दीवारें चलकर देखनी चाहिए।

मैं फिर परिसर के भीतर मुड़ गया। आण्डाल के मन्दिर से निकलते हुए मैंने देखा, वहाँ दर्जनों दूकानों में उनकी भव्य सुन्दर तस्वीरें, मूर्तियाँ बिक रही थीं। मुझे मूर्तियों से कुछ लेना-देना नहीं था लेकिन उनकी एक सुन्दर तस्वीर सिर्फ याद के लिए खरीद ली। दूसरी तरफ मुड़ा तो किताबों की कुछ दूकानें नजर आयीं। मेरा मन प्रफुल्लित हो गया। भागता हुआ मैं एक दूकान में दाखिल हुआ। 'आण्डाल पर कुछ है क्या?' दूकानदार ने कई किताबें मेरी ओर बढ़ा दीं। सब तमिल में। मैंने पूछा, ''कोई अँग्रेजी में है क्या?'' उसने मुँह बनाया, बोला, ''आल इन तमिल, नो इंगलिश।'' मेरा मुँह उतर गया। हम अपने ही देश में कई बार भाषा के कारण कितने निरीह और अपंग हो जाते हैं। हमारी अपनी ही विरासत मूल भाषा के अलावा हमारी अपनी दूसरी भाषाओं में उपलब्ध नहीं है।

मुझे मन्दिर की बाहरी दीवारों का मुआयना करना था लेकिन वहाँ मोबाइल और कैमरा ले जाने की अनुमति नहीं थी। हम लोग कितने जड़ हैं समझ में नहीं आता। हम अपनी विरासतें दूसरों से छिपाकर क्यों रखना चाहते हैं? दुनिया को क्यों नहीं देखने देना चाहते? ऐसा क्या है, जो छिपाया जाना चाहिए? वहाँ तस्वीर खींचनी हो तो उसकी लम्बी प्रक्रिया है। खतों-किताबत करनी पड़ेगी, इजाजत लेनी पड़ेगी। मेरे पास कोई चारा नहीं था। मैं हिम्मत करके अपना मोबाइल छिपाकर ले गया। मुझे छोड़कर दीवारों की ओर जाने वाला कोई और वहाँ नहीं दिखा। मैंने हैरत से देखा, पूरी दीवार ही ऐसे पत्थरों से बनी थी, जिस पर तमिल लेख अंकित थे। मैं पढ़ नहीं सकता लेकिन मुझे रोमांच हो आया। मैंने ढेर सारी तस्वीरें लीं, वीडियो भी बनायी। इस भाषा के लिए मैं अन्धरा हूँ, देखूँगा, कोई तमिल मित्र इसका हिन्दी रूपान्तर कर दे शायद। यह

हर काल में जलती मशालों की तरह अनेक ऐसी स्त्रियाँ दिखाई पड़ती हैं, जिन्होंने समाज में बराबर के अधिकार के लिए जूझने का संकल्प किया। पुरातनपन्थी समाज से सीधे लड़ना बहुत आसान नहीं था, इसलिए उन्होंने भक्ति की राह पकड़ी। अपने समूचे कट्टरपन के बावजूद हमारा समाज हमेशा भगवानों से डरता आया है। एक ऐसी स्त्री को रोकना, छेड़ना मुश्किल होता है, जो अपनी अव्यक्त भगवत्तामय फैण्टेसी के साथ बाहर निकल आयी हो। ऐसी प्रतिभावान स्त्रियों को, जिन्हें पराजित करना असम्भव था, पुरुषों ने मूर्तियों में बदल दिया, उन्हें मन्दिरों में ला बिठाया। उनकी पूजा शुरू कर दी।

मेरे लिए खजाना था। मैं उनकी मूर्ति का दर्शन करके नहीं, इन शिलालेखों के पास पहुँचकर शायद आण्डाल के कुछ नजदीक पहुँच पाया।

मैं मदुरै में, विल्लीपुथूर में घूमा। उनके जन्म-स्थान पर उन्हें कविताएँ लिखते, पिता के काम में सहयोग करते, अहीर दोस्तों के साथ खेलते, वनांचल में फूलों, पक्षियों से बात करते महसूस करने की कोशिश की। यहीं वटपत्रशायी को उन्होंने नन्दमहल की तरह अपनी रचनाओं में दर्ज किया है। यहीं से उनकी बारात तिरुचिरापल्ली स्थित रंगनाथ मन्दिर तक गयी थी, जहाँ उन्होंने श्रीरंग से शादी रचायी थी। यही उनके कृष्ण हैं, जिनसे अगाध प्रेम उनकी कविताओं में दिखाई पड़ता है। यह एक महान कवि की कथा-भर है। यह आज भी कथा ही है। श्रीरंगम में भी वे विष्णु

के साथ मूर्तिवत स्थापित हैं। ये मूर्तियाँ बेजान हैं। लोगों की श्रद्धा का क्या करें? ज्यादातर लोगों को देवता या देवियाँ चाहिए, जो उनकी इच्छाएँ पूरी कर सकें। वे खुश होते होंगे दर्शन करके। मैं श्रीरंगम में भी 'शेष मण्डप' खोजता रह गया। वहाँ मन्दिर के सारे शिलालेख रखे गये हैं। मेरे साथ पढ़ा-लिखा गाइड भी था। लेकिन मन्दिर के गाइड भी सिर्फ दर्शन कराने और कथाएँ सुनाने में सिद्धहस्त हैं। मेरे गाइड के पास भी मेरे सवालों के जवाब नहीं थे। मन्दिर कावेरी से घिरे एक द्वीप की तरह विशाल क्षेत्र में फैला हुआ है, इसलिए किसी आदमी के लिए अकेले समूचा इलाका घूमना और देखना सम्भव नहीं।

मदुरै जाते समय मैं बहुत खुश था। मैं जानता था कि वहाँ एस. वेंकटेशन रहते हैं। तमिल के विख्यात साहित्यकार, तमिल प्रगतिशील लेखक और कलाकार संघ के मानद अध्यक्ष, मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी के पूर्णकालिक कार्यकर्ता और पूर्व सांसद। उनके प्रसिद्ध उपन्यास 'कोवल कोट्टम' के लिए उन्हें 2011 में साहित्य एकेडेमी अवार्ड मिल चुका है। सोचा था उनसे मिलकर आण्डाल पर कोई नयी दृष्टि मिल सकेगी लेकिन बहुत कोशिश के बाद भी उनसे सम्पर्क नहीं हो सका। उनके फोन की घण्टी मैंने दर्जनों बार बजायी लेकिन वह उठा नहीं। उन्हें एक सन्देश छोड़ आया हूँ। शायद वह उसे कभी पढ़ लें। एक महाविद्यालय में तमिलभाषी लेकिन हिन्दी की प्रवक्ता डॉ. रोहिणी पांडियान से भी चर्चा हुई थी लेकिन छुट्टियाँ होने के कारण वे भी अपने गाँव चली गयी थीं। उनसे बात हुई लेकिन मिलना न हो सका।

मैं कहूँगा कि इस यात्रा में आण्डाल ने मुझे अपनाया, उन्होंने अपनी पीड़ा से अवगत कराया और अपने दरवाजे थोड़े खोले। एक मेधावी और विलक्षण स्त्री मन्दिरों और कर्मकाण्ड से बाहर आना चाहती है। जिसने अपने समय में पारम्परिक भक्ति आन्दोलन के सामने भी एक बड़ी चुनौती उपस्थित कर दी थी, जिसने हमेशा अवज्ञा और उल्लंघन का रास्ता अपनाया, भक्ति की सीमाओं को तोड़ा, उसे नया अर्थ दिया, उसे परम भक्त बनाकर पूजा जाना आखिर कैसे पसन्द आएगा। यह सही है कि तमिल भूमि पर उनका बहुत सम्मान है, उनका बहुत आदर है। साल-भर उनकी याद में अनेक उत्सव चलते रहते हैं। अगस्त और दिसम्बर का महीना तो विराट उत्सव में सराबोर रहता है। अगस्त में उनका जन्म-दिन पड़ता है और दिसम्बर में उनकी रचना 'तिरुप्पावै' के तीस गीतों को आधार बनाकर महीने-भर तमिल स्त्रियाँ सरोवरों, नदियों में स्नान करती हैं, उनके गीत गाती हैं। विवाह समारोहों में उनका 'स्वप्न विवाह गीत' जरूर गाया जाता है। यह बुरा नहीं है लेकिन यह अब एक विराट उत्सवधर्मी कर्मकाण्ड से ज्यादा कुछ नहीं है।

हमारे समाज को, खासकर स्त्रियों को वह आण्डाल चाहिए, जिसने न केवल स्त्री-सत्ता की स्थापना की बल्कि आठवीं-नवीं शताब्दी के अन्धकाल में लड़कियों को लम्बी नींद से जगाया, उन्हें अपने भविष्य के प्रति सचेत किया और अपना लक्ष्य सुनिश्चित करने तथा उसे पाने के लिए प्रेरित किया। इतना ही नहीं उनका नेतृत्व भी किया। उन्होंने स्वयं अपने जीवन में असम्भव लक्ष्य चुना और सारी परम्पराओं को धता बताते हुए उसे हासिल करने के कठिन रास्ते पर चल पड़ीं। वे कृष्ण के गीत जरूर गाती हैं लेकिन उस कृष्ण को भगवत्ता प्रदान नहीं करती, उसको अपनी ही गली में बुलाना चाहती हैं, बुलाती भी हैं। वे स्त्री-सत्ता के सामने सर्वसत्तात्मक विष्णु को भी झुकने के लिए विवश कर देती हैं। विष्णु भी विष्णु नहीं रहता। वह पवित्रता-अपवित्रता की रूढ़ियों को तोड़कर आण्डाल की देह-गन्ध की इच्छा करता है। वह उन्हें प्रेम-पत्र लिखता है। समाज से अपेक्षा करता है कि वह आण्डाल को भी उतना ही सम्मान दे, जितना हमें देता है। यह कथाएँ हैं लेकिन ईश्वर और भक्त के पारम्परिक रिश्तों के विरुद्ध अगर उस समय कथाएँ कही गयीं तो यह बहुत साधारण बात नहीं थी। उन्हें अपने ही पिता को वे 'कोदा' के रूप में मिली थीं लेकिन उन्होंने अपनी पुत्री की इसी अद्वितीयता को देखकर उन्हें 'आण्डाल' कहा। आण्डाल यानी विष्णु पर राज करने वाली। इस आशय से वह भक्त मात्र नहीं थीं, उनमें महान सत्ताओं को भी अपने कदमों में झुका देने की सामर्थ्य थी। वे लगातार परम्पराओं के खिलाफ खड़ी होती हैं, अवज्ञा की राह पकड़ती हैं, किसी से डरती नहीं। इस कारण उन्हें अलग-थलग करने की भी कोशिश होती है लेकिन वे अपने रास्ते से डिगती नहीं। इस तरह वे अपनी समय की भक्ति-मानकों का भी उल्लंघन करती हैं। मुझे उसी आण्डाल को खोजना है, उसे ही सबके सामने लाना है। उनके दरवाजे पर खड़ा साँकल बजा रहा हूँ। ■

हिन्दी आलोचना और विजयदेव नारायण साही

जन्मशती

मुक्तेश्वर नाथ तिवारी

'लोकतन्त्र की कसौटियाँ' नामक पुस्तक में साही के लेख सामाजिक परिवर्तन, लोकतन्त्रीय कसौटियाँ, सम्पूर्ण कौमी एकता, सम्पूर्ण क्रान्ति के सामाजिक-सांस्कृतिक पहलू, लोकतान्त्रिक समाजवाद में साहित्य की भूमिका, राजनीति और साहित्य, विदेशी सहायता इत्यादि विषयों से सम्बद्ध हैं। डायरी के कुछ अंश भी हैं तथा 'राजनीति में साहित्यकार' विषय पर एक साक्षात्कार भी है। 'राजनीति और साहित्य' विषयक लेख में अति संक्षेप में विश्व का सांस्कृतिक इतिहास भी है।

लेखक शान्तिनिकेतन विश्वभारती के हिन्दी विभाग में प्रोफेसर और विश्वभारती पत्रिका के सम्पादक हैं।
+918250419161
mnathtiwary@gmail.com

(1)

विजयदेव नारायण साही (1924-1982 ई.) आलोचना की सर्जनात्मक जमीन तोड़ने वाले हिन्दी के विशिष्टतम आलोचक, कवि एवं विचारक थे जिनका यह जन्म शताब्दी वर्ष है। देशकाल की समाजार्थिकी के पृष्ठाधार से और अँगरेजी या पश्चिमी काव्य-शास्त्र की पेशेगत सुगमता (अँगरेजी के अध्यापक, इलाहाबाद विश्वविद्यालय) से हिन्दी आलोचना में उन्होंने तर्क और विश्लेषण तथा व्याख्या और पल्लवन के नये द्वार खोले थे। साही की आलोचना को पढ़ते हुए बारम्बार यह महसूस होता है कि काव्यात्मकता की पड़ताल के लिए लगभग उन्होंने नयी सरणियाँ अपनायी हैं। निष्कर्ष कूटकर फलाफल बताने वाली हिन्दी आलोचना की ऊब को साही की आलोचना अपदस्थ करती हुई पाठकों को 'रिफ्रेश' करती है। साही की अपनी भीतरी मान्यताओं की स्वयं उनकी आलोचना पर चौकसी-सी रहती है। ये मान्यताएँ उनका 'रोडमैप' रही हैं, मसलन उनके एक-दो कथनों को याद कर लें (अ) 'साहित्य मानव सभ्यता से उलझता है', (आ) 'जिन मान्यताओं के ऊपर हम खड़े हैं, उन पर फिर एक बार प्रश्नवाचक दृष्टि डालने की जरूरत है।'

'लघु मानव के बहाने हिन्दी कविता पर बहस'–साही का वह बहुश्रुत और बहुपठित आलेख है जिसकी उद्भावनाएँ न केवल नव्यतर हैं, बल्कि वचन-विन्यास भी युगीन पर्यालोचन से अलहदा है। साही अपनी आलोचना में ही युगीन आलोचना की कलई खोलते हैं, एक तो यह कि 'हम चिरन्तन प्रश्नों पर चिरन्तन दृष्टि से और समसामयिक प्रश्नों पर समसामयिक दृष्टि से विचार करने के अभ्यासी हो गये हैं।' यहाँ साही का अनुरोध 'वैपरीत्य साधर्म्य' साध लेने का है। वैपरीत्य कैसा? श्रेष्ठ चिन्तक को करना यह होगा कि समामयिक प्रश्नों पर उसकी चिरन्तन दृष्टि पड़े और चिरन्तन प्रश्नों पर समसामयिक। रचनाकार एक 'आतुर स्वप्नदर्शी' होता है; उसे पढ़ते हुए उसके युग यहाँ तक कि रचनाकार की तमाम मलिनता और पवित्रता के पाठक साक्षी बनें। रचनाकार 'सामाजिक सत्ता' और 'राजनीतिक सत्ता', एवं अन्य प्रभावी सत्ताओं से बचकर नहीं निकल सकता।

(2)

कविता पुस्तकों ('मछलीधर', 'साखी', 'संवाद तुमसे', 'आवाज हमारी जाएगी') के अतिरिक्त साही ने 'जायसी', 'साहित्य और साहित्यकार का दायित्व', 'छठवाँ दशक', 'साहित्य क्यों', 'वर्धमान और पतनशील' जैसी आलोचनात्मक पुस्तकें दीं। जीते-जी 'मछलीधर' ही प्रकाशित पुस्तक थी। शेष का प्रकाशन पत्नी कंचनलता साही और मित्रों के सहयोग के उपरान्त प्रकाशित लेखों और भाषणों के संचयन के रूप में पुस्तकाकार हो पाया। साही अच्छे वक्ता थे। देश-भर में आमन्त्रित होते। उनके प्रकाशित श्रेष्ठ लेख श्रेष्ठ भाषण का भी हिस्सा रह चुके हैं। 'साहित्य और साहित्यकार का दायित्व'

पुस्तक सौ प्रतिशत व्याख्यान का प्रकाशन है। इसी तरह के सामाजिक-राजनीतिक विषयों के कतिपय उनके व्याख्यान 'लोकतन्त्र की कसौटियाँ' (सन् 1990, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, प्रयागराज) में संकलित हैं। इस पुस्तक में सांस्कृतिक उद्भावनाओं की प्रतीक्षा करते हुए साही राजनीति, समाज, दर्शन, साहित्य, क्रान्ति, लोकतन्त्र, वैज्ञानिक समाजवाद, पूँजीवाद, लोकतान्त्रिक समाजवाद आदि के मसले उठाते हैं। इस खास पुस्तक को लेखक-कवि साही की प्रतिबद्धताओं के लिहाज से देखना जहाँ ज्यादा उचित है, उससे भी अधिक इस कारण यह पुस्तक पठनीय है कि–छठे और सातवें दशक के भारत में सामाजिक और राजनीतिक सत्ताएँ किस करवट बैठ रही हैं–पुस्तक से इसका पता चलता है। वे 'तीसरा सप्तक' में संकलित हुए थे। कविता में चाहे विद्रोही न हों, लेकिन 'तीसरा सप्तक' में नये ढंग का 'वक्तव्य' लिखते हुए वे पच्चीस बिन्दुओं में पच्चीस 'शीलों' की बात करते हैं। 'दूसरे शील' में लिखते हैं–''मैं परम स्वतन्त्र हूँ। मेरे सिर पर कोई नहीं है। अर्थात अपने किये के लिए शत-प्रतिशत जिम्मेदार हूँ। अर्थात मेरे लिए नैतिक होना सम्भव है।'' साही के पास सब दिन विचार की नैतिकता के स्रोत स्वरूप नरेन्द्र देव, जयप्रकाश नारायण, गाँधी और लोहिया रहे। कम्युनिस्ट प्रगतिवादियों से वैपरीत्य रखते रहे, हालाँकि 'वैपरीत्य भी एक प्रकार का साधर्म्य है', यह स्वयं उन्हीं की राय है। दस वर्षों तक ट्रेड यूनियनों में मजदूरों के लिए काम किया। कानून की किताबें पढ़कर प्रवंचितों के वकील की भी भूमिका निभायी। सन् 1967 में साही संयुक्त सोशलिस्ट पार्टी से लोकसभा का चुनाव भी लड़ते हैं, मिर्जापुर से; लेकिन जीतते नहीं हैं। वक्रता और विरोधिता की स्वयं की चुनी हुई भूमि पर रहने के कारण तीन बार जेल गये। 'तीसरा सप्तक' के अपने 'परिचय' में उन्होंने स्वयं कबूला, ''एक बार एक महीने मजदूरों की हड़ताल के सम्बन्ध में, दूसरी बार तीन दिन गोलवलकर को काला झण्डा दिखाने के अपराध में, तीसरी बार तीन घण्टे जवाहरलाल नेहरू की मोटर के सामने किसानों का प्रदर्शन करने के दुस्साहस पर (पृष्ठ 181)।'' साही साहित्य को राजनीति के आगे चलने वाली मशाल मानते थे।

(3)

'लोकतन्त्र की कसौटियाँ' नामक पुस्तक में साही के लेख सामाजिक परिवर्तन, लोकतन्त्रीय कसौटियाँ, सम्पूर्ण कौमी एकता, सम्पूर्ण क्रान्ति के सामाजिक-सांस्कृतिक पहलू, लोकतान्त्रिक समाजवाद में साहित्य की भूमिका, राजनीति और साहित्य, विदेशी सहायता इत्यादि विषयों से सम्बद्ध हैं। डायरी के कुछ अंश भी हैं तथा 'राजनीति में साहित्यकार' विषय पर एक साक्षात्कार भी है। 'राजनीति और साहित्य' विषयक लेख में अति संक्षेप में विश्व का सांस्कृतिक इतिहास भी है। गैलिलियों के जमाने में, सोलहवीं शताब्दी में यूरोप में सबसे बड़ी घटना यह घटी थी कि विज्ञान और अनुसन्धान ने मध्यवर्ग को उत्पादन के साधन प्रदान किये; विश्व-दर्शन दिया ताकि मध्यवर्ग सांस्कृतिक दासता से मुक्त हो सके। यूरोप एवं एशिया में सामन्त युग का सफाया निश्चित रूप से इसी मध्यवर्ग ने किया। इससे एक नयी स्वातन्त्र्य चेतना फैली जिसने ''विश्व-दर्शन, सांस्कृतिक मूल्यों और साहित्य के क्षेत्र में ऐसी उथल-पुथल मचायी कि पुरानी परम्पराओं और मान्यताओं का सारा महल ढह गया।'' फारसी साहित्य में सामन्तशाही के ऊपराम होने पर ही फिरदौसी, मौलाना रूम, हाफिज, उमर खैय्याम का मुक्तकण्ठ से लेखन सम्भव हुआ।

साहित्य, कला, शास्त्र, दर्शन इत्यादि पर सामन्त-युग में धर्म का ऐसा वर्चस्व था कि इन सभी अनुशासनों से जीवन या जन-जीवन ही हाशिये पर चला गया था। तब ये अनुशासन धर्म-दर्शन से यों बावस्ता हुए कि ये स्वयं जीवन की दार्शनिक व्यवस्था मात्र साबित हुए। यहाँ साही का एक उद्धरण देखने योग्य है, ''मार्क्स ने कहा है कि जन-जीवन यदि बुनियादी ढाँचा है तो धर्म, विचार, शास्त्र, कला आदि बाह्य ढाँचे हैं। इस प्रकार साहित्य स्वयं एक अपने नियमों से परिचालित होने वाला बाह्य ढाँचा न रहकर, अन्य ढाँचे का ढाँचा बनने के लिए विवश हो गया (पृष्ठ 96)।''

महात्मा गाँधी पर यथास्थान विशेष फोकस मिलता है। गाँधी के अवदानों को याद करते हुए सन् 1967 के अपने साक्षात्कार में साही ने बताया कि ''गाँधी जी की सबसे बड़ी देन यही रही है कि वह अहिंसात्मक ढंग से गतिरोध और विरोध को विकसित करने तथा मनोबल को दृढ़ करने की नयी प्रेरणा देश को दे गये हैं (पृष्ठ 114)।'' उन्होंने गाँधी के दर्शन में लोकतान्त्रिक समाजवाद के कुछ प्रारम्भिक सूत्र भी ढूँढ़ निकाले जब गाँधी यह कहते पाये गये कि ''यदि हरेक आदमी जितना उसे चाहिए, उतना ही ले, ज्यादा न ले, तो दुनिया में गरीबी न रहे और कोई आदमी भूखा न मरे।''

(4)

राममनोहर लोहिया परवर्ती काल में लोकतान्त्रिक समाजवाद के मसीहा साबित होते हैं, जो बकौल साही ''अपने को, सरकारी और मठी गाँधीवादियों से अलग कुजात गाँधीवादी कहते थे।'' साही ने कहा है कि भारतीय कम्युनिज्म की–''सबसे बड़ी कमी यह है कि उसने गाँधी जी द्वारा प्रतिष्ठित जनहितों को व्यावहारिक स्तर पर आत्मसात करने के सत्य को स्वीकार नहीं किया।'' गाँधी ही नहीं, उत्तर गाँधी युग में जयप्रकाश नारायण और लोहिया–कुल ये तीन ऐसे जननेता हुए 'जिनके विचारों में ऐसा कुछ अंश है जो अकेले पड़ जाने पर भी आदमी में एक तरह के जिद्दीपन का निर्माण करता है कि कोई परवाह नहीं; हम रुकेंगे नहीं, चलते रहेंगे (पृष्ठ 02)'। जिसको हम गाँधीवाद कहते हैं, उसकी एक व्यापक सत्ता जनता की थी।

साही को भारतीय राजनीति से बौद्धिकता की अपेक्षा रहती थी। बौद्धिकता और राजनीति को विचार और कर्म के स्तर पर लाने की आवश्यकता पर साही मुखर थे। उनके शब्द हैं, ''राजनीति को पूर्ण रूप से मानवीय बनाने के लिए यह आवश्यक है कि उसे बौद्धिक स्तर पर ग्रहण किया जाये और व्यवहार में डालने की चेष्टा की जाये।'' राजनीति को मानवीय, व्यवहार्य, वैचारिक इत्यादि रूपों में परिवर्तनीय कीजिये। राजनीति के कई दूसरे अभिप्रेतों में उन्होंने इसकी सृजनशील शक्ति को भी रेखांकित किया जो समाज की जकड़न और पूर्वग्रहों पर चोट भी इसी नाते करती रही। राजनीति में ठहरावावाद की घातक सामाजिक हानियाँ हैं। साही ने कहा, ''ठहरावावाद का एक-दो सिद्धान्त इससे जरूर निकलता है–

कहो कड़ी दूरगामी परिवर्तन की बात, गहरे परिर्वतन की बात, करो कुछ नहीं (पृष्ठ 60)।'' लोकतन्त्र की तीन आवश्यक शर्तों, यथा-समानता स्वतन्त्रता और भ्रातृत्व पर यथेष्ट प्रकाश डालते हुए वे क्रान्तिकारी राजनीतिज्ञों से सतत् विकेन्द्रीकरण को बढ़ावा देने की अपील करते हैं। साही की वैचारिकी में पारम्परिक और नैतिक आस्था पर बहुत बल है। इसे देखते हुए सामाजिक परिवर्तन के मसले पर उनका दृढ़ विश्वास था कि सकारात्मक एवं सृजनशील बातों को जनता के बीच लाकर परिवर्तन की आशा की जा सकती है–''आज जब पूरे देश को बरगलाने वाले की आवाज सुनी जाती है, तब भी मुझे भरोसा है कि मैं अपनी बात कहकर देश को बदल सकता हूँ।''

सच्चे लोकतन्त्र में सामाजिक परिवर्तन को सम्भव करने वाली ताकतें स्वतन्त्रता, समानता, भ्रातृत्व और विकेन्द्रीकरण की प्रवृत्तियाँ ही हैं। साही ने आगाह किया है कि–'स्वतन्त्रता केवल चुने हुए लोगों' तक ही सीमित न रहे। इसी प्रकार समानता को केवल कानूनी जामा पहना देने से लोकतन्त्र के लक्ष्य की सिद्धि नहीं होती है, और भ्रातृत्व केवल राष्ट्रीय देश-प्रेम तक ही नत्थी नहीं है। साही ने भ्रातृत्व को परिभाषित करते हुए लिखा–''भ्रातृत्व का अर्थ गाँव में फलीभूत एक प्रकार की साझेदारी है, फिर एक मीलों तक जाती हुई धारा है (पृष्ठ 15)।''

(5)

साही ने इस्लाम में भ्रातृत्व के सघन बीज देखे, क्योंकि वहाँ स्थापित सत्य है कि–'खुदा के सामने वाले सब भाई हैं।' विकेन्द्रीकरण लोकतन्त्र को नीचे तक ले जाने वाला तत्त्व है; शक्ति के विद्युत कणों को ऊपर से नीचे तक बाँटना होगा। साही का चिन्तन था कि राजनैतिक चिन्तन से उपजा हुआ सामाजिक परिर्वतन बिना आर्थिक विकास के भी हासिल हो सकता है बशर्ते मुस्तैदी से स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व को बढ़ावा दिया जा सके। विकास के नामवाला सामाजिक परिवर्तन दृढ़ इच्छाशक्ति से यदि सम्बलित होगा, तो परिवर्तन तो आएगा ही। दूसरी जरूरत संगठनात्मक है जिसका बीज विकेन्द्रीकरण में है। ऊपर से नीचे तक, अन्तिम व्यक्ति को घेरती हुई समितियाँ हों। सामाजिक परिर्वतन के लिए चौकसी गैर-बराबरी की करती रहनी होगी क्योंकि गैर-बराबरी एक मापदण्ड भी है। 'जातिवाद का चरित्र' भ्रातृत्व का है, लेकिन विषमता को तोड़ने के लिए जाति पर प्रहार करना आवश्यक है।

साही यह जोर देकर कहते हैं कि भ्रष्टाचार का मसला भारत की राजनीति में कोई मुद्दा है ही नहीं। भारतीय राजनीति में मतदाता सदाचारी-दुराचारी को नहीं देखते। साही ने 'साँच को आँच क्या' की तर्ज पर लिखा, ''याद दिलाना चाहता हूँ कि किसी आदमी का एक प्रतिशत वोट आज तक इस बात पर हुआ है कि वे भ्रष्टाचारी हैं या एक आदमी का एक प्रतिशत वोट इस आधार पर पड़ गया है, कि वह सदाचारी है। (पृष्ठ 48)?''

साही ने मार्क्स, गाँधी, आचार्य नरेन्द्रदेव, जयप्रकाश नारायण और लोहिया के श्रेष्ठ विचारों की भित्ति पर अपनी समाजवादी वैचारिकता की नींव रखी थी; लेखकों और दार्शनिकों में और भी कइयों के नामोल्लेख आते हैं, लेकिन बहुत-से अवसरों पर वे मार्क्स, गाँधी, लोहिया इत्यादि की बहुत-सी नीतिगत पद्धतियों से तीव्रतापूर्वक प्रतिक्रिया करते हैं क्योंकि 'प्रश्नवाचक दृष्टि' फेरने की उनकी अपनी स्थापित रीति है।

राष्ट्रवाद और समाजवाद के आग्रही रहने के कारण ही लोहिया ने 'अँग्रेजी हटाओ' की बात उठायी थी और हिन्दी का धुर समर्थन किया था, साही ने यह लिखा। साहित्य में रहकर 'समाजवाद' से वितृष्णा नहीं रह सकती क्योंकि 'साहित्य समाजवाद का लगभग समानधर्मा है।' साहित्य में रहती है भाषा जो आद्यन्त सामाजिक होती है। साहित्य की भाषा संगीत की भाषा से भी अधिक प्रभावकारी होती है क्योंकि संगीत की भाषा के कर्णकुहरों में खो जाने के बाद, लगभग निःशेष हो जाने के बाद भी साहित्य की वाणी 'अजेय शक्ति से जगती है।'

(6)

लेकिन साहित्य की दुर्गति तब आती है, जब व्यवस्था दिवालिया हो जाती है, तब भी साहित्य बाजार में पण्य के रूप में अस्तित्व के लिए लड़ता है। साही की दृढ़ मान्यता है कि ऐसे आपदधर्म में भी साहित्य अपना स्वधर्म छोड़ना नहीं चाहता। समाजवादी रूस में जब साहित्य का स्वधर्म टूटने लगा था, तब रूसी साहित्यकार मायको की ललकार वाली घोषणा आयी थी, ''दोस्तो, ऐसी पुरजोर कविताएँ लिखो जो लाल सेना के हर कदम पर ताल दे सकें, ताकि पार्टी के अपने सालाने जलसे में जब कामरेड स्टालिन इस्पात की राष्ट्रीय पैदावार की रपट पेश करने लगें, तो वे कविता के उत्पादन का हिसाब देना न भूलें (पृष्ठ 90)।''

साहित्य से बदलाव की आशा रखने के कारण धूमिल 'कल सुनना मुझे' की बात कर गये थे। विजयदेवनारायण साही के एक गजल-संग्रह का नाम भी इसी तर्ज पर है–'आवाज हमारी जाएगी।' 'लोकतान्त्रिक समाजवाद में साहित्य की भूमिका' विषयक अपने भाषण में साही ने महाभारतकार को याद करते हुए सभी साहित्यकारों की तरफ से कहा था, ''हाँ, आज मेरी बात जनता नहीं सुनती है, लेकिन एक दिन सुनेगी जरूर, लेकिन तब शायद मैं नहीं रह जाऊँगा (पृष्ठ 91)।''

■

साहित्य, कला, शास्त्र, दर्शन इत्यादि पर सामन्त-युग में धर्म का ऐसा वर्चस्व था कि इन सभी अनुशासनों से जीवन या जन-जीवन ही हाशिये पर चला गया था। तब ये अनुशासन धर्म-दर्शन से यों बावस्ता हुए कि ये स्वयं जीवन की दार्शनिक व्यवस्था मात्र साबित हुए। यहाँ साही का एक उद्धरण देखने योग्य है, ''मार्क्स ने कहा है कि जन-जीवन यदि बुनियादी ढाँचा है तो धर्म, विचार, शास्त्र, कला आदि बाह्य ढाँचे हैं। इस प्रकार साहित्य स्वयं एक अपने नियमों से परिचालित होने वाला बाह्य ढाँचा न रह कर, अन्य ढाँचे का ढाँचा बनने के लिए विवश हो गया।''

नदियों के अस्तित्व पर नया खतरा

सिद्धान्त कुमार

शहरनामा

शहरीकरण और शहर के आधुनिकीकरण की इच्छा से प्रेरित रिवर फ्रण्ट पारम्परिक सामुदायिक स्थान को नष्ट करने की क्षमता रखता है। ये विकास परियोजनाएँ अक्सर गंगा की प्राकृतिक गतिशीलता को बदल देती हैं और घाटों पर अतिक्रमण करती हैं। इसका एक प्रमुख परिणाम भौतिक परिवर्तन और कुछ मामलों में ऐतिहासिक घाटों का एकमुश्त विनाश है। नदी-तट के विकास से जुड़ी निर्माण गतिविधियों से कटाव, नदी के किनारों का अस्थिर होना और घाटों की संरचनात्मक अखण्डता का क्षरण हो सकता है।

लेखक शोधार्थी है एवं पीपुल्स रिसोर्स सेण्टर (पी.आर.सी.), दिल्ली से जुड़े हैं।
+917838158362
sidhantamu@gmail.com

भारतीय शहरों में सैकड़ों रिवर फ्रण्ट परियोजनाओं पर युद्धस्तर पर काम चल रहा है। ये परियोजनाएँ आमतौर पर 'विश्वस्तरीय शहरों' की अवधारणा पर आधारित होती हैं। ये नदी की पर्यावरणीय और नदी पर आश्रित समुदायों पर गहरे और दीर्घकालीन प्रभावों की कीमत पर बनायी जा रही हैं। सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि राज्य की एजेंसियों और बैंकों से करोड़ों रुपये के कर्ज लेने के कारण परियोजनाएँ भारी कर्ज में भी हैं।

'विश्वस्तरीय शहरों' की परियोजनाओं से प्रेरित बड़े पैमाने पर रिवर फ्रण्ट निर्माण के परिणामस्वरूप स्थानीय समुदायों, विशेष रूप से नदी के किनारे रहने वाले हाशिये की आबादी का विस्थापन होता है। लेकिन राज्य नदी के सौन्दर्यीकरण, कायाकल्प और बेहतरी का तर्क देता है।

शहरों और नदियों के बीच ऐतिहासिक सम्बन्ध रहे हैं जिसके कारण कई शहर नदियों के आस-पास विकसित हुए तथा नदियों ने शहरी समुदाय को आजीविका देने के साथ-साथ मत्स्य-पालन, परिवहन, जलवायु संरक्षण जैसी सुविधाएँ दीं।

शहरी नदी के तटीय विकास और कंक्रीट के गहन इस्तेमाल के कारण नदी की प्राकृतिक पारिस्थितिकी तन्त्र के लिए खतरा पैदा हो रहा है। दूसरी ओर सरकार के टॉप-डाउन दृष्टिकोण के कारण शहरी नियोजन की प्रक्रिया में लोगों की भागीदारी नहीं हो रही है और इस तरह लोंगों को निर्णय प्रक्रिया से वंचित होना पड़ रहा है। इसलिए, हमारे शहरों को टिकाऊ, लचीला और लोकतान्त्रिक बनाने के लिए नदी के किनारों के विकास के लिए नागरिकों के नेतृत्ववाली लोकतान्त्रिक और सहभागितावाली योजना भी आवश्यक है।

शहर-नदी सम्बन्ध और सामुदायिक संसाधनों का रिश्ता

नदियों के घाटों पर मानवीय गतिविधियाँ हजारों साल से मौजूद हैं और घाटों पर समुदाय का ही अधिकार रहा है न कि सरकार का। नदी के किनारे घाटों का निर्माण, रखरखाव, सामुदायिक समितियों और उनके संसाधनों से ही होता रहा है। सरकार या राज्य हमेशा संरक्षक की भूमिका में रहा है। उदाहरण के लिए विभिन्न शहरों (जैसे दिल्ली, काशी या बनारस, पटना, इलाहाबाद, ऋषिकेश, हरिद्वार, कोलकाता इत्यादि शहरों) में घाटों का निर्माण हुआ था उन पर बनाने वाले समूह/परिवार/व्यक्ति के शिला पट लगे मिलता है। लेकिन अब इस प्रक्रिया में बदलाव आ गया है और सरकार ने खुद को मालिक घोषित कर नदी और उससे जुड़े संसाधनों को अपने अधीन ले लिया है और समाज-समुदाय का हक समाप्त कर दिया है।

शहर-नदी सम्बन्ध में राज्य का हस्तक्षेप

शहरी कायाकल्प, आर्थिक समृद्धि और बाढ़ नियन्त्रण के लिए हाल ही में राज्य द्वारा संचालित रिवर फ्रण्ट विकास को विभिन्न

मोर्चों पर आलोचना का सामना करना पड़ता है। पर्यावरणीय चिन्ताएँ उत्पन्न होती हैं क्योंकि ये परियोजनाएँ अक्सर प्राकृतिक पारिस्थितिकी तन्त्र को बाधित करती हैं, जिससे कटाव और निवास-स्थान का विनाश होता है। बाढ़ शमन पर राज्य का जोर कभी-कभी नदी की गतिशीलता में बदलाव के अनपेक्षित पर्यावरणीय परिणामों को नजरअन्दाज कर देता है। रिवर फ्रण्ट निर्माण के कारण नदियों के किनारे संरक्षित सांस्कृतिक धरोहरों का भारी नुकसान हो रहा है जिसका जीता-जागता उदाहरण वाराणसी में देखा जा सकता है। आधुनिक ढाँचागत विकास और निर्माण के कारण सदियों पुरानी ऐतिहासिक संरचनाओं और तथा सांस्कृतिक परम्पराओं पर सीधे-सीधे प्रहार और नुकसान पहुँचाया जा रहा है अब तीर्थाटन की जगह पर्यटकों को ध्यान में रखकर किये जा रहे कायाकल्प के माध्यम से इन स्थानों को व्यावसायिक गतिविधियों में परिवर्तित किया जा रहा है। जिससे शहर-नदी सम्बन्धों की सामाजिक-सांस्कृतिक पहचान का क्षरण होता है।

नदी सौन्दर्यीकरण और कायाकल्प

सौन्दर्यीकरण और नदी कायाकल्प राज्य द्वारा नदी तट विकास परियोजनाओं के लिए उपयोग किया जाने वाला एक प्रमुख बिन्दु है। ये कथाएँ इन नदी तटीय स्थलों को मनोरंजन और वाणिज्यिक केन्द्रों के रूप में देखने के लिए राज्य के दृष्टिकोण की सेवा करती हैं। राज्य का दृष्टिकोण पेरिस, क्योटो आदि जैसे विश्वस्तरीय शहरों से आता है। बुनियादी ढाँचे के विकास के माध्यम से प्रदूषित नदियों को एक 'आदर्श' नदी में बदलने का दृष्टिकोण है।

एक वैश्विक प्रभाव की प्रवृत्ति को वर्तमान समय में आगे बढ़ाया जा रहा है, जहाँ शहर निर्मित पर्यावरण के उधार तत्त्वों का अवलोकन कर रहा है, ज्यादातर एक दृश्य तरीके से जो स्थानीय प्रतिक्रियाओं के साथ विच्छेद में दृश्य आधिपत्य का निर्माण करता है, जो अब तक एक महत्त्वपूर्ण मानदण्ड बन गया है।

हैदराबाद में मूसी नदी पर, शहर के उभरते मध्यम वर्ग के लिए सौन्दर्यीकरण और मनोरंजन क्षेत्रों के पक्ष में रिवर फ्रण्ट का विकास किया गया था। यह सूरत शहर की जल-प्रणालियों के साथ वर्तमान प्रस्तावों से स्पष्ट है, जहाँ, उदाहरण के लिए, रुन्ध और मगदल्ला क्षेत्र के पास तापी नदी पर एक बैराज प्रस्तावित किया जा रहा है, जिसकी परिकल्पना सिंगापुर की तर्ज पर की गयी है, जहाँ एक आगन्तुक प्रस्तावित दृष्टिकोण से पूरी झील का दृश्य प्राप्त कर सकता है।

पुणे में रिवर फ्रण्ट परियोजना का उद्देश्य नदी को 'सुन्दर' बनाना है। फिर भी, परियोजना आर्द्रभूमि पारिस्थितिकी तन्त्र के नुकसान, भूजल स्तर पर प्रभाव, बाढ़ के स्तर पर प्रभाव, आजीविका के नुकसान और नदी के पानी के बढ़ते प्रदूषण जैसे परिणामों को ध्यान में नहीं रखती है–सभी मुद्दे परियोजना के खिलाफ आन्दोलन को उजागर कर रहे हैं।

खान सरस्वती नदी के पुनरुद्धार का तर्क सौन्दर्यीकरण और मनोरंजन गतिविधियों के लिए एक नदी तट के निर्माण के लिए दिया गया था। वर्ष 2012 में जे.एन.एन.यू.आर.एम. (जवाहरलाल नेहरू राष्ट्रीय शहरी नवीकरण मिशन) के तहत शहर की 14.5 किलोमीटर लम्बी नदी को यात्रा और मनोरंजन क्षेत्र में बदलने के लिए रिवरसाइड कॉरिडोर का प्रस्ताव किया गया था। नदी के किनारे गलियारा परियोजना ने नदी को साफ करने की पहल के माध्यम से नदी के कायाकल्प की योजना नहीं बनायी। चूँकि ऐसी कोई परियोजना साथ-साथ नहीं चल रही थी, इसलिए रिवरसाइड कॉरिडोर परियोजना सरकार द्वारा एक नदी अतिक्रमण परियोजना के रूप में उभरी, जबकि इसके निर्माण के लिए लोगों का व्यापक विस्थापन हुआ। इन्दौर के एक प्रमुख कार्यकर्ता किशोर कोडवानी ने खान सरस्वती नदी के कायाकल्प के लिए अदालत में एक याचिका दायर की।

इसके अलावा, प्रदूषण के उपचार के द्वारा शासन के दायरे को और विस्तार किया जा रहा है जिससे नदियों के कायाकल्प परियोजनाओं को न्यायसंगत साबित कर सरकार के हर विध्वंसात्मक कदम को औचित्य पूर्ण ठहराने की कोशिश की जा रही है। पुणे के समृद्ध सांस्कृतिक विरासत और नदी के तटीय स्थानों के स्थानों की पर्यावरणीय क्षति का मुख्य कारण नदी प्रदूषण है जिसकी वजह से शहरी इलाकों में बाढ़ के खतरों में वृद्धि हो गयी है। केन्द्रीय प्रदूषण नियन्त्रण बोर्ड ने हाल ही में घोषणा की कि महाराष्ट्र में नदी प्रदूषण का स्तर देश में सबसे अधिक है। साथ ही, महाराष्ट्र प्रदूषण नियन्त्रण बोर्ड मूला और मुठा नदी को प्रथम प्रदूषित नदी विस्तार सूची में रखा है। उनकी वर्तमान स्थिति में मुख्य योगदान कर्ता औद्योगिक अपशिष्ट, अनुपचारित सीवेज और नदियों के पास आवास परिसरों और अस्पतालों द्वारा छोड़े गये अपशिष्ट हैं। इसलिए, राज्य प्रदूषण प्रबन्धन के नाम पर क्षेत्र के कायाकल्प को उचित ठहराता है।

नागरिकों के अधिकारों पर अतिक्रमण

रिवर फ्रण्ट एक ऐसी प्रक्रिया बन जाती है जो नागरिकों के अधिकारों और नदी के साथ उनके रिश्ते पर बन्दिश लगाती है और उनका अतिक्रमण करती है। इन्दौर में खान सरस्वती नदी आनन्द के लिए एक स्थान, शहरी आम लोगों, पारम्परिक आजीविका प्रथाओं और स्थानीय पारिस्थितिकी से जुड़ी हुई है, जो एक नदी के किनारे पर है, जिसमें गेटेड पार्क, फुटपाथ, प्रदूषित पानी और बेदखली और विस्थापन की ऐतिहासिक छापें (और लगातार खतरेवाली बस्तियाँ) हैं।

दिल्ली में, यमुना पर हाल ही में रिवर फ्रण्ट परियोजना ने किसानों और समुदायों को बेला एस्टेट से बेदखल कर दिया है। बेला एस्टेट 189 एकड़ के क्षेत्र में जैव विविधता पार्क और झील के निर्माण के लिए शुरू की गयी यमुना रिवर फ्रण्ट विकास परियोजना का प्रारम्भिक हिस्सा है। यमुना के पश्चिमी तट पर स्थित एक झुग्गी बस्ती में अनेक प्रवासी और किसान रहते हैं, जिनमें बेला एस्टेट की एक किसान रेखा भी शामिल है, जो राजघाट राजमार्ग चौराहे पर धरना दे रही है। यमुना रिवर फ्रण्ट विकास परियोजना के मद्देनजर 2018 में उनका घर ध्वस्त कर दिया गया था। हर दिन वह अपने हमवतन लोगों को धरना देने के लिए इकट्ठा करती है जो पिछले दो वर्षों से चल रहा है। वह उन सैकड़ों किसानों में से है जिन्हें यमुना के बाढ़ के मैदानों से बेदखल कर दिया गया था।

स्थानीय विवरणों के अनुसार, 1980 के दशक में कुछ निवासियों ने बाढ़ के मैदान में खेती शुरू की और चाइना कॉलोनी, बेला गाँव, मूलचन्द बस्ती, मल्ला गाँव और

कंचनपुरी सहित आस-पास के क्षेत्रों में अपनी बस्तियाँ बनायी।

स्थानीय रूप से चिन्नी भाई के नाम से जाने जाने वाले एक व्यक्ति यमुना के आई. टी.ओ खण्ड के पास गोताखोरों के प्रमुख हैं, और बचपन से ही गोताखोरी का अभ्यास कर रहे हैं। गोताखोर में अपरिहार्य कौशल होते हैं जो बाढ़ के दौरान काम आते हैं। यमुना में आई.टी.ओ. खण्ड में एक छठ घाट भी है जिसका निर्माण यमुना सौन्दर्यीकरण परियोजना के हिस्से के रूप में किया गया है। छठ घाट के निर्माण के साथ चिन्नी भाई की आजीविका बहुत दबाव में आ गयी है, क्योंकि उनकी आवाजाही और यमुना तक पहुँच प्रतिबन्धित कर दी गयी है।

यमुना पर रिवर फ्रण्ट के चल रहे विकास और परियोजना से जुड़ी सौन्दर्यीकरण परियोजनाओं के बाद से ये समुदाय संकट में हैं। किसानों और गोताखोरों के समुदाय सदियों से ही शहरी नदियों पर निर्भर रहे हैं।

नागरिकों की पहुँच पर अतिक्रमण

पुणे के नगर निगम ने निजी भागीदार संगठनों के साथ मिलकर विभिन्न पहल और कार्यक्रम शुरू किये हैं जो नदियों की सफाई और सौन्दर्यीकरण, नदियों के तटों तक सम्पर्क और पहुँच बढ़ाने और शहर के समग्र विकास के लिए सद्भाव में काम करने का दावा करते हैं। हालाँकि, कई नागरिक और नागरिक समाज समूह इन परियोजनाओं के कथित दावों और उनके पीछे के इरादों पर सवाल उठा रहे हैं।

मुला मुठी आर.आई.वी.आर. एक ''नदी कायाकल्प परियोजना'' है। यह एक ऊपर से नीचे की ओर विकास दृष्टिकोण है जिसका उद्देश्य नदी के किनारे आम लोगों से समझौता करना हैः खाद्य सुरक्षा, पानी और आजीविका की निर्भरता को जोखिम में डालना है।

यह प्रस्ताव अनिवार्य रूप से मानव गतिविधियों के समरूपीकरण पर आधारित है, इसलिए मौजूदा परिदृश्य के लिए गहरी प्रासंगिक प्रतिक्रिया के बिना नदी के किनारों पर शहर की सीमान्त आबादी की आजीविका-आधारित गतिविधियों से समझौता किया जाता है। अम्बिका निकेतन मन्दिर, ओवारा जैसे विविध ऐतिहासिक परिसर हैं; नवदी ओवारा घण्टा ओवारा, अश्विनी कुमार और इसके मन्दिर परिसर जिन्हें बड़ी योजना के भीतर शामिल करने की आवश्यकता है। नदी को स्थल आधारित तरीके से देखने से शहर की व्यापक जल-प्रणालियों की जटिलता का पता नहीं चलता है, जो एक-दूसरे से जुड़े तरीके से काम करती है। नदी के किनारों पर विकास की एक अखण्ड प्रकृति के कार्यान्वयन की प्रक्रिया में नरमी और विस्थापन की सम्भावना के साथ नदी के इस पूरे हिस्से के साथ विविध रूपात्मक, सामाजिक, पारिस्थितिक, सांस्कृतिक और आर्थिक स्थितियाँ मौजूद हैं। स्थानीय ज्ञान और स्थानीय ज्ञान-प्रणालियों को शहरी परिवर्तन में खतरे में छोड़ दिया गया है क्योंकि शहर एक एकल दृष्टि के लिए एक खाली कैनवास में बदल गया है। यह ऐसी स्थिति पैदा करता है जहाँ निजीकरण के परिणामस्वरूप आपदाएँ आती हैं और आर्थिक लाभ और विकास के दायरे से परे उन्हें कामकाज से वंचित होना पड़ता है।

शहरीकरण और शहर के आधुनिकीकरण की इच्छा से प्रेरित रिवर फ्रण्ट पारम्परिक सामुदायिक स्थान को नष्ट करने की क्षमता रखता है। ये विकास परियोजनाएँ अक्सर गंगा की प्राकृतिक गतिशीलता को बदल देती हैं और घाटों पर अतिक्रमण करती हैं। इसका एक प्रमुख परिणाम भौतिक परिवर्तन और कुछ मामलों में ऐतिहासिक घाटों का एकमुश्त विनाश है। नदी तट के विकास से जुड़ी निर्माण गतिविधियों से कटाव, नदी के किनारों का अस्थिर होना और घाटों की संरचनात्मक अखण्डता का क्षरण हो सकता है। निर्माण में कंक्रीट और अन्य गैर-पारम्परिक सामग्रियों का उपयोग भी इन स्थानों के सौन्दर्य और सांस्कृतिक महत्त्व को कम कर सकता है।

इसके अलावा, पर्यटन और आर्थिक हितों से प्रेरित रिवर फ्रण्ट का व्यवसायीकरण घाटों को पवित्र और साम्प्रदायिक स्थानों से वस्तु क्षेत्रों में बदल देता है। सामुदायिक प्रथाओं के एक हिस्से के रूप में, वाराणसी में घाटों और नदी के बाढ़ के मैदान के कुछ हिस्सों को मौसमी फूलों की खेती के लिए, मछली, मोलस्क, मिट्टी जैसे नदी के संसाधनों के दोहन के लिए और रोजमर्रा के वाणिज्य, अनुष्ठानों, अवकाश और मनोरंजन के सार्वजनिक स्थानों के रूप में अस्थायी आश्रयों के रूप में माना गया है। दिलचस्प बात यह है कि वाराणसी के लिए स्मार्ट सिटी के दृष्टिकोण के अनुरूप 'सार्वजनिक स्थानों' के निर्माण का विचार अन्य वर्गों को दूर करते हुए अमीर 'जनता' की एक विशिष्ट आबादी के हितों, माँगों और आकांक्षाओं को पूरा करने का इरादा रखता है। विक्रेताओं, होटलों और मनोरंजन सुविधाओं की आमद घाटों के पारम्परिक चरित्र को बदल सकती है, जिससे वे स्थानीय समुदायों के लिए कम सुलभ और सार्थक हो जाते हैं।

उदाहरण के लिए, नदी के परिदृश्य के कुछ हिस्से आवारा पशुओं के साथ-साथ गरीब किसानों और मछुआरों द्वारा पाले जाने वाले पशुओं के लिए चराई के मैदान के रूप में भी काम करते हैं। 20वीं पशु धन जनगणना रिपोर्ट (2019) के अनुसार उत्तर प्रदेश में कुल मवेशियों की संख्या 18.8 मिलियन है। उत्तर प्रदेश सरकार के वादों के बावजूद, गायों की सुरक्षा के लिए राज्य सरकार, आवारा पशुओं का खतरा (जो पिछले कुछ वर्षों में वाराणसी की गलियों और घाटों का चरित्र बन गया है) शहर को परेशान कर रहा है जो एक स्मार्ट बदलाव के लिए कमर कस रहा है।

यह इस तथ्य पर जोर देता है कि बाढ़ के मैदानों ने वाराणसी में नदी समुदायों और उनके पशु धन की पोषण सम्बन्धी जरूरतों को पूरा किया है। हालाँकि, रिवर फ्रण्ट परियोजना ने सामान्य चराई से समझौता किया है, इसलिए इन पशु धन पर निर्भर सीमान्त आबादी की आजीविका को प्रभावित किया है।

इसलिए, भारत में होने वाली रिवर फ्रण्ट परियोजनाओं पर पूर्ण प्रतिबन्ध लगाने की आवश्यकता है। आम लोगों के संसाधन हड़पने का विरोध करने के लिए एक ठोस प्रयास और एक जन-आन्दोलन की आवश्यकता है। अनेकानेक कार्यकर्ताओं ने अतीत में ऐसा किया है, उदाहरण के लिए, नर्मदा बचाओ आन्दोलन। नदियों के संरक्षण पर व्यापक सामाजिक आन्दोलन में नदी के किनारे के मुद्दों को शामिल करने से इस मुद्दे को सुर्खियों में लाने में मदद मिलेगी।

■

जीवन से जुड़ी आजीविका

अशीष कोठारी

हमें बताया जाता है कि प्राथमिक क्षेत्र के कामों से मैन्युफैक्चरिंग और सेवाओं की ओर बढ़ना ही आर्थिक प्रगति है। इसलिए वह आजीविका जो वस्तुतः हम सभी को जीवित रखती है—खेती, वानिकी, पशुपालन, मत्स्य-पालन और सम्बन्धित कारीगरी को हम पिछड़े काम मानते हैं। भारत में, इस सोच के चलते 70 से 80 करोड़ लोगों, यानी देश की दो-तिहाई आबादी को हाशिये पर खदेड़ दिया गया है। ऐसे कई लोग हैं, जो प्राकृतिक संसाधनों पर निर्भर हैं, उन्हें इन संसाधनों से महरूम किया जाता है।

लेखक 'कल्पवृक्ष' संगठन में पर्यावरण, विकास व विकल्प संगम पर काम करते हैं।
ashishkothari@kalpavriksh.org

हम इतनी बेचैनी से इन्तजार क्यों करते हैं कि कब दिन का काम खत्म हो या कब हफ्ते भर के काम के बाद दो दिन की छुट्टी मिले? क्या काम की परिभाषा में बदलाव किया जा सकता है ताकि हम काम में आनन्द और खुशी को भी जोड़ सकें? आर्थिक विकास ने आजीविकाओं को 'निर्जीविकाएँ' बना दिया है। यह विकास सदियों से बने काम के तरीकों को मिटा रहा है। हमारा जीने का तरीका ऐसा था, जिसमें काम और फुर्सत के बीच कोई स्पष्ट विभाजन नहीं था; अब उनकी जगह 'असेम्बली लाइन' की नीरस नौकरियाँ हथियाने लगी हैं और हम काम के हफ्ते के बाद दो दिन की मुक्ति और दूसरी छुट्टियों का बेसब्री से इन्तजार करते हैं।

हमें बताया जाता है कि प्राथमिक क्षेत्र के कामों से मैन्युफैक्चरिंग और सेवाओं की ओर बढ़ना ही अर्थिक प्रगति है। इसलिए वह आजीविका जो वस्तुतः हम सभी को जीवित रखती है—खेती, वानिकी, पशुपालन, मत्स्य-पालन और सम्बन्धित कारीगरी को हम पिछड़े काम मानते हैं। भारत में, इस सोच के चलते 70 से 80 करोड़ लोगों, यानी देश की दो-तिहाई आबादी को हाशिये पर खदेड़ दिया गया है। नतीजे में लाखों किसानों की आत्महत्या या कथित विकास परियोजनाओं के कारण 6 करोड़ लोगों का अपने खेतों, जंगलों और तटों से विस्थापन हाथ लगा है। ऐसे कई लोग हैं, जो प्राकृतिक संसाधनों पर निर्भर हैं, उन्हें इन संसाधनों से महरूम किया जाता है। हमारा ध्यान बमुश्किल ही इस बात पर जाता है कि ये लोग गरीब होते जा रहे हैं। उनके जमीन और पानी उद्योगों, सड़कों, खनन और शहरों के लिए छीने जा रहे हैं। विकास ने गरीबी के नये-नये रूपों को जन्म दिया है।

मान लें कि यह तो करना ही पड़ेगा और करना अच्छा भी है, लेकिन हम इनकी जगह क्या ले आये हैं? गरीबों के लिए या तो कोई रोजगार नहीं हैं और हैं भी तो निर्माण स्थलों, खदानों, उद्योगों, ढाबों और ऐसी जगहों पर जहाँ अनिश्चित, शोषणकारी और असुरक्षित रोजगार हैं, जिन्हें शायद ही कम मशक्कत का काम कहा जा सकता है। विडम्बना यह है कि 93% भारतीय रोजगार अनौपचारिक क्षेत्र में हैं और इनका शोषण लगातार बढ़ता जा रहा है। काम के बदले कमाई के मामले में मध्यम वर्ग और अमीरों की स्थिति बहुत अच्छी है। एक अध्ययन से पता चलता है कि एक फीसदी भारतीयों के पास देश की कुल सम्पत्ति का 50 फीसदी से ज्यादा हिस्सा है, लेकिन ऐसे काम की गुणवत्ता क्या है?

आई.टी. उद्योग जैसे आधुनिक क्षेत्रों में काम करने वाले ज्यादातर लोग दुनिया-भर में फैली एक विशाल असेम्बली लाइन के यान्त्रिक पुर्जे ही तो हैं। कॉल सेण्टरों में अलस्सुबह से देर रात तक, कम्प्यूटर टर्मिनल पर झुके हुए रटे-रटाये जवाब देते रहते हैं या हर पल भूखे 24×7 न्यूज चैनलों

को न्यूज देने के लिए जी-तोड़ मेहनत करते हैं या शेयर बाजार के आँकड़ों को घूरते रहते हैं–कौन ईमानदारी से कह सकता है कि ये 'निर्जीविकाएँ' नहीं हैं जो हमारी स्वतन्त्रता और जन्मजात रचनात्मकता को दबाती हैं? अगर ऐसा नहीं है, तो हम दिन का काम खत्म होने या हफ्ते के अन्त में छुट्टियों का इतनी बेताबी से इन्तजार क्यों करते हैं? हमें अपने को खुश रखने के लिए 'रीटेल थेरपियों' के छिछले तरीके क्यों आजमाने पड़ते हैं?

ऐसा नहीं है कि सभी आधुनिक रोजगार 'निर्जीविकाएँ' हैं, या सभी पारम्परिक आजीविकाएँ बढ़िया थीं। पहले भी असमानता और शोषण, खासकर लिंग व जाति को लेकर थे, यहाँ तक कि उबाऊ मशक्कत भी थी, लेकिन उस 'सूखे' के साथ, सार्थक आजीविकाओं के रूप में जो कुछ 'हरा-भरा' था, उसे भी जला देना सही नहीं होगा।

ऐसे कई उदाहरण हैं, जो कभी गरीब रहे किसानों की सामाजिक और आर्थिक स्थिति को सुधारने में मदद करते हैं, जैसे कि 'डेक्कन डेवलपमेण्ट सोसाइटी' जिसमें दलित महिला किसान 'अन्न स्वराज' की तरफ बढ़ने के साथ-साथ फिल्म निर्माता और रेडियो स्टेशन मैनेजर तक बन गयी हैं; या 'दस्तकार' जिन्होंने सिद्ध किया है कि कारीगर आज भी खरा है; उन्होंने हाथ से काम करने वाले तमाम कारीगरों को नयी गरिमा दी है। इसी तरह आधुनिक क्षेत्र में भी गिने-चुने सार्थक रोजगार हैं–खेतों और जंगलों में काम करने वाला जीव-विज्ञानी, जो प्रकृति में रहना पसन्द करता है, संगीत शिक्षक जो उत्साहपूर्वक छात्रों की प्रतिभा को सामने लाता है, एक 'शेफ' जो खाना पकाने के काम को प्रेम करता है और ऑर्गेनिक आहार की रसोई की साज-सँभाल करता है।

मौजूदा प्रवाह के विरुद्ध जाने के लिए शिक्षा में बुनियादी बदलाव की जरूरत है। स्कूलों और कॉलेजों में हमारे दिमाग में यह ठूँस दिया जाता है कि बौद्धिक कार्य शारीरिक श्रम से बेहतर है। हमारे दिमाग को इस तरह मोड़ा जाता है कि इसमें हाथ, पैर और हृदय की क्षमता के विकास की गुंजाइश नहीं रहती। हमारे समक्ष ऐसे लोगों को रोल-मॉडल की तरह पेश किया जाता है जो प्रकृति पर हावी होकर दूसरों को नीचे गिराते हुए सफलता की सीढ़ियाँ चढ़े हैं।

हम बड़े होते हैं तो उत्पादकों व कारीगरों को कुछ नहीं समझते। किसानों को उनकी उपज के लिए बेहद कम कीमतें मिलती हैं। इसी से समझ में आएगा कि हमारे समाज की प्राथमिकताएँ कितनी विकृत हैं। जो हमें जिन्दा रखता है, उसे तो हम वाजिब दाम भी चुकाना नहीं चाहते, परन्तु ब्राण्डेड जूते और उपकरणों के लिए मुँहमाँगी कीमत चुकाने को तैयार रहते हैं। हम इस बात की परवाह भी नहीं करते कि कामगार को क्या मिलता है। एक और महत्त्वपूर्ण परिवर्तन आर्थिक संरचनाओं में करना जरूरी है–जमीन और प्राकृतिक संसाधनों पर सामुदायिक अधिकार की सुरक्षा, उत्पादन के साधनों पर कामगारों का नियन्त्रण और बाजारों पर सामाजिक नियन्त्रण।

अगली बार जब खानाबदोश चरवाहों को अपने शहरों की सड़कों पर भेड़ों के साथ देखें, तो इस बारे में सोचें। शायद वे बीते जमाने के लोग हैं जो जल्द ही गायब हो जाएँगे, लेकिन कौन कह सकता है कि हमारे आई.टी. या डिजिटल मीडिया या कॉल सेण्टर की नौकरियों के साथ भी ऐसा ही नहीं होगा? शायद अब से एक पीढ़ी के आर्टीफिशियल इण्टेलिजेन्स वाले रोबोट, हममें से कुछ को कम्प्यूटर स्क्रीन पर घूरते हुए देखकर मुस्कुराएँगे कि हम कैसे निठल्ले पोंगा-पण्डित हैं। न केवल किसान और मछुआरे, बल्कि मनुष्य भी काल के गाल में समा जाएँगे–बटनों को नियन्त्रित करने वाले कुछ लोगों को छोड़कर। क्या यह केवल मिथ्या है? शायद, लेकिन इस तरह की कई कथाएँ सच हो गयी हैं।

इससे पहले कि हम ऐसे भविष्य में पहुँच जाएँ जहाँ मनुष्य ही गैर-जरूरी बन जाये, हमें कुछ गम्भीर पुनर्विचार करना होगा। यह परिवर्तन हो सकता है कि हम केवल एक आई.टी. प्रोफेशनल या लेखक बनने की जगह, वह इनसान बन सकें जो बनने की हम क्षमता रखते हैं। शायद हम किसानों को रिसर्चर और फिल्मकार बनने में मदद भी कर सकते हैं जो मार्क्स के दृष्टिकोण का दूसरा रूप है–शिकारी-मछुआरे-पशुपालक-आलोचक। कई लोग कुशल रिसर्चर, किसान, संगीतकार, पालक, शोधकर्ता हैं, जो काम और आराम, शारीरिक और मानसिक, पुराने और नये के बीच के झूठे विभाजन को तोड़ते हुए एक सहज समग्रता में जी रहे हैं।

यह देर-सबेर जरूर होगा। तब तक हमें कम-से-कम जीवन के उन तरीकों की सराहना करनी चाहिए जो हजारों साल से पृथ्वी का आदर करके टिके हैं, न कि उनकी सराहना करें जिसने हममें से कई लोगों को सबसे अलग-थलग करने वाले आधुनिक रोजगार दिये हैं। क्या हम एक भीमकाय उत्पादन प्रणाली–जो केवल कुछ लोगों को समृद्ध करती है–का बेजान पुर्जा बने रहना चाहते हैं? आइये देखें कि हम पुराने और नये में जो अच्छा है उसे कैसे जोड़ सकते हैं, ताकि दोनों को अधिक सार्थक और सन्तुष्टिदायक बनाया जा सके। यह शायद आजीविकाओं को वापस लाने और 'निर्जीविकाओं' को तिलांजलि देने की शुरुआत होगी। (सप्रेस)

(अनुवाद : दीपक धोलकिया)

■

आई.टी. उद्योग जैसे आधुनिक क्षेत्रों में काम करने वाले ज्यादातर लोग दुनिया-भर में फैली एक विशाल 'असेम्बली लाइन' के यान्त्रिक पुर्जे ही तो हैं। अगली बार जब खानाबदोश चरवाहों को अपने शहरों की सड़कों पर भेड़ों के साथ देखें, तो इस बारे में सोचें। शायद वे बीते जमाने के लोग हैं जो जल्द ही गायब हो जाएँगे, लेकिन कौन कह सकता है कि हमारे आई.टी. या डिजिटल मीडिया या कॉल सेण्टर की नौकरियों के साथ भी ऐसा ही नहीं होगा?

शापग्रस्त दौर के कहानीकार अखिलेश

गुलनाज बेगम

साहित्य

मानवीय-मूल्य हाशिये पर चला जाता है तथा सारे सम्बन्ध स्वार्थ केन्द्रित हो जाते हैं। मूलतः इसके लिए यह पूरा दौर जिम्मेदार है और इसी दौर की कथा कहते अखिलेश पारिवारिक, सामाजिक, आर्थिक व राजनैतिक सम्बन्धों के क्षरण का सूक्ष्म आंकलन के साथ ही इनके पीछे जिम्मेदार कारकों को भी रेखांकित करते हैं। अखिलेश का लक्ष्य समस्यामूलक कृति रच देना-भर नहीं है।

लेखिका कुलटी महाविद्यालय (प.बं.), हिन्दी विभाग में असिस्टेण्ट प्रोफेसर हैं।
+918389844373
begamgulnaz1702@gmail.com

अखिलेश भूमण्डलीकरण और उत्तर-भूमण्डलीकरण के दौर के कहानीकार हैं। भूमण्डलीकरण से तात्पर्य है विश्व के भू-भागों का एक-दूसरे के साथ सम्पर्क की सहजता। पूँजीवादी रणनीति के तहत इसका मूल लक्ष्य बाजार को बढ़ावा देना रहा है। प्रभा खेतान इस सन्दर्भ में कहती हैं– ''भूमण्डलीकरण बाजारों को एक करने वाला और मनुष्यों को बाँटने वाले एक तन्त्र के रूप में उभरा''[1] किसी भी रचना का शीर्षक मूल संवेदना या रचना के भीतर के पूरे परिवेश को समेटे रहता है। शापग्रस्त कहानी-संग्रह का शीर्षक इसमें संकलित सभी कहानियों के साथ न्याय करता है, जो इन सभी रचनाओं की मूल संवेदना की अभिव्यक्ति में समर्थ है। अखिलेश ने 1989 से 1996 के बीच 'ऊसर' (1989), 'अगली शताब्दी के प्यार का रिहर्सल' (1989), 'चिट्ठी' (1989), 'बायोडाटा' (1991), 'शापग्रस्त' (1993), 'पाताल' (1994), 'जलडमरूमध्य' (1996) कहानियों को इसमें संकलित किया है। इस पूरे संग्रह से गुजरते पाठक के मन में पात्रों और समूचे परिवेश के लिए शापग्रस्त होने का बोध उभरता है। दोष-निर्दोष से परे शापित होना व्यक्ति की नियति नजर आती है। इसमें आये पात्र भूमण्डलीकरण और उत्तर-भूमण्डलीकरण के प्रभाव से स्वयं को अक्षुण्ण नहीं रख पाते। वे प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप से इससे प्रभावित रहते हैं। परिणामतः मानवीय-मूल्य हाशिये पर चला जाता है तथा सारे सम्बन्ध स्वार्थ केन्द्रित हो जाते हैं। मूलतः इसके लिए यह पूरा दौर जिम्मेदार है और इसी दौर की कथा कहते अखिलेश पारिवारिक, सामाजिक, आर्थिक व राजनैतिक सम्बन्धों के क्षरण का सूक्ष्म आँकलन के साथ ही इनके पीछे जिम्मेदार कारकों को भी रेखांकित करते हैं। अखिलेश का लक्ष्य समस्यामूलक कृति रच देना-भर नहीं है बल्कि पाठक को वह दृष्टि भी देना है जिससे समस्याओं की जड़ की पहचानकर असाध्य रोग की भूमिका में उपस्थित बाजार की संस्कृति का यथाशक्ति सामना करने में सक्षम हुआ जा सकेगा–''...उनकी कहानियाँ पारम्परिक यथार्थ-अंकन की उन युक्तियों से परहेज करती हैं, जहाँ पाठक अन्ततः एक निष्क्रिय प्रेक्षक ही रह जाता है... कोशिश यह होती है कि पाठक कारणों की ओर गौर करे, सवालों से घिरे ताकि उसमें बदलने की मनोभूमि विकसित हो।[2] अखिलेश की कहानियाँ पाठक के भीतर बेचैनी पैदा करती है। यहाँ बेरोजगारी, अनैतिकता व भ्रष्टाचार के पीछे विफल शिक्षा-व्यवस्था को जिम्मेदार ठहराया गया है तो मृतप्राय मानवीय-संवेदना और सम्बन्धों के लिए बाजार की संस्कृति को। राजनैतिक पतन अपने चरम पर है। अपने समय की साम्प्रदायिकता असहिष्णुता को अखिलेश की रचनाओं में गहरी अभिव्यक्ति मिली है।

'ऊसर', 'अगली शताब्दी के प्यार का रिहर्सल', 'चिट्ठी', 'बायोडाटा'–इन कहानियों में 90 के दशक के युवा-वर्ग की मनःस्थिति का चित्रण है। बेरोजगार युवाओं में जन्मे

स्वाभाविक कुण्ठाओं को अखिलेश ने इन पात्रों की अपनी भाषा में अभिव्यक्ति दी है। ऊसर और बायोडाटा कहानी के पात्र निम्न-मध्यवर्गीय ऐसे युवा हैं जो अपनी किस्मत राजनीति से चमकाना चाहते हैं। ''हमारे समय की राजनीति का जनविरोधी क्रूर और अविश्वसनीय रूप से निर्मम चरित्र सब कहीं एक प्रमुख कारक के रूप में उपस्थित है जो सम्पत्ति और सत्ता की चमक से अपनी ओर आकर्षित करती है और फिर उतनी ही तेजी से विकर्षित भी करती है। लेकिन उससे बचाव का उपाय भी नहीं है। 'बायोडाटा' का राजदेव मिश्र छत्तीस साल का एक युवक है। राजनीति के प्रति उसके आकर्षण का सीधा-सा कारण है–'क्योंकि उसने जान लिया था कि सुख की सर्वोत्तम मलाई राजनीति के दूध में पड़ती है'। इस राजनीति का मुख्य निर्देशक सूत्र है, 'हम लोगों के लिए राजनीति जीवनसंगिनी है और जीवनसंगिनी रखैल। जो रखैल को जीवनसंगिनी समझता है, लक्ष्य सदैव उससे दूर रहता है...'[3] राजदेव जैसे पात्रों के माध्यम से राजनीति के अनैतिक आचरण के प्रति लाभ-लोभवश आकर्षित युवा तथा भ्रष्ट राजनीति के स्वरूप को उजागर किया गया है। 'ऊसर' कहानी का युवक कहानी के अन्त में पूरी विवशता के साथ प्रकट होता है माँ और विवाह-योग्य बहन के प्रति जिम्मेदारियों को अपने होश-ओ-हवास में भले ब्लू फिल्म और शराब के नशे में भुला दिये जाने का भ्रम कराता हो लेकिन उसका अवचेतन मौका पाते ही उसे सालता है–''चन्द्रप्रकाश को किसी चीज का होश नहीं था। वह सोया हुआ नहीं था, लेकिन वह जाग भी नहीं रहा था। उसे लगता कमरे में अँधेरा हो गया है। कभी लगता, तेज उजियारा फैल गया है। उसे महसूस हुआ, वह अपने घर में है। सिरहाने माँ आकर खड़ी हो गयी है और माँ के आँसू उसके गाल पर चू पड़े हैं''[4] सम्पत्ति और सत्ता की चमक के कारण ही 'अगली शताब्दी के प्यार का रिहर्सल' का जितेन्द्र, राजनैतिक रसूख वाले एडवोकेट विपिन सिंह की एकलौती पुत्री दीपा से औसत रंग-रूप के बावजूद विवाह के लिए लालायित रहता है। जितेन्द्र का सम्भावित भविष्य सिविल सर्विस में देखते हुए दीपा भी उससे प्रेम का स्वाँग रचती है। इस कहानी में 'प्रेम एक पावर डिस्कोर्स में रूपान्तरित हो गया है'।[5] सभी मूल्यों की तरह ही अखिलेश ने प्रेम के अवमूल्यन को रेखांकित किया है। प्रेम का संकुचन पद, पैसा और प्रतिष्ठा में होने लगा है। 35 वर्ष पूर्व लिखी गयी इस कहानी में आज की भविष्यवाणी रचनाकार कर चुके थे। अपनी कहानियों के माध्यम से समय के पार देखने की दृष्टि ने अखिलेश को अधिक प्रासंगिक बनाया है।

अखिलेश की कहानी चिट्ठी कलेवर और संवेदना के धरातल पर एक वृहद कहानी है जो आर्थिक उदारीकरण के साथ युवाओं में बेरोजगारी-जनित विवशता और कुण्ठा का मार्मिक चित्रण करती है–''समूची युवा और सम्भावनाशील पीढ़ी की हताशा और अवसाद को यह कहानी गहरी करुणा एवं संवेदना के साथ अंकित करती है।''[6] इस कहानी में चित्रित युवा पात्र अपनी साधनहीनता में भी स्वाभिमान को नहीं छोड़ते और इससे बड़ा घातक संयोजन और क्या हो सकता है। एक समय के बाद भोजन की व्यवस्था न होने पर भूखे रह जाते हैं, वहीं दूसरी ओर अयोग्य शिक्षक और भ्रष्ट व्यवस्था को चुनौती देते हैं जो उनकी तथाकथित सफलता में बाधक बनते हैं। ''हमें नौकरी नहीं मिल रही थी जबकि कि वह हमारे लिए साँस थी इस वक्त''[7] जैसे वाक्य बेरोजगारी की विभीषिका को दर्शाते हैं।

शापग्रस्त, पाताल और जलडमरूमध्य कहानियाँ मानवीय सम्बन्धों की कुरूपता को व्यंजित करती हैं। शापग्रस्त का प्रमोद वर्मा इसलिए शापग्रस्त है क्योंकि वह स्वार्थ-केन्द्रित और भ्रष्ट जीवन का प्रतिनिधित्व करता है। एक सम्पन्न मध्यवर्गीय व्यक्ति सुखरोग से ग्रसित है। भोगवादी संस्कृति का आदी प्रमोद की आत्मा पूरी तरह मर चुकी है परिणामतः संसार में निर्मम कष्ट भोगता व्यक्ति भी उसके भीतर की संवेदना को नहीं जगा पाता–'क्योंकि मेरी आत्मा खो गयी है। मुझे यह पता भी नहीं कि वह कहाँ खोई। पहले मैं अक्सर उसे निकालकर रख देता था, इसी में वह कहीं खो गयी।'[8] नव-उपनिवेशवाद में न व्यक्ति रोता है और न पश्चाताप ही करता है। वह जीवित है लेकिन उसकी आत्मा कब की मर चुकी है। आत्मा को निष्पाप बनाने के लिए प्रमोद नौकरी के दाँव-पेंच से मुक्ति चाहता है। विडम्बना यह है कि इस व्यवस्था में भ्रष्टाचार के बजाय सड़क-निर्माण की ईमानदार रिपोर्ट से वह नौकरी से निलम्बित होता है।

पाताल कहानी पुंसवाद का परचम लहराते समाज की कथा है। कहानी पढ़ते हुए प्रेमनाथ के चरित्र से एक कहावत याद आता रहा कि घी का लड्डू टेढ़ा हो तो भी मूल्यवान है। पुरुष जननेन्द्रिय मात्र के साथ पैदा होना शारीरिक, मानसिक अपंगता के बावजूद असीम शक्ति का अधिकारी बना सकता है और अपनी ही तरह (कई बार) खुद से अधिक योग्य मनुष्य (स्त्री) को किस कदर पालतू बनाकर स्वामित्व ग्रहण कर सकता है–अखिलेश ने इसका सटीक चित्रण किया है। वस्तुतः समाज में पनपी किसी मानसिकता से सामाजिक प्राणी होने के नाते अछूता नहीं रहा जा सकता, चाहे वह स्त्री-द्वेष हो या साम्प्रदायिक घृणा। प्रेमनाथ के भीतर ये दोनों मौजूद हैं। विश्व के भू-भागों का एक-दूसरे के साथ सम्पर्क की सहजता के बावजूद स्त्री साम्प्रदायिकता के प्रश्नों के प्रति हम सहज नहीं हो पाये हैं। इसके कई उद्धरण पाताल कहानी में मिलते हैं–मसलन प्रेमनाथ की सोच है कि औरत घोड़ी है और उसकी लगाम मर्द को कसे रखनी चाहिए, या निपूत होने के लिए

पाताल कहानी पुंसवाद का परचम लहराते समाज की कथा है। कहानी पढ़ते हुए प्रेमनाथ के चरित्र से एक कहावत याद आता रहा कि घी का लड्डू टेढ़ा हो तो भी मूल्यवान है। पुरुष जननेन्द्रिय मात्र के साथ पैदा होना शारीरिक, मानसिक अपंगता के बावजूद असीम शक्ति का अधिकारी बना सकता है और अपनी ही तरह (कई बार) खुद से अधिक योग्य मनुष्य (स्त्री) को किस कदर पालतू बनाकर स्वामित्व ग्रहण कर सकता है–अखिलेश ने इसका सटीक चित्रण किया है। वस्तुतः समाज में पनपी किसी मानसिकता से सामाजिक प्राणी होने के नाते अछूता नहीं रहा जा सकता, चाहे वह स्त्री-द्वेष हो या साम्प्रदायिक घृणा।

सुषमा को बाँझ कहना। मतिमन्द प्रेमनाथ बूढ़े करीम को कटुआ कहकर दंगे में घर फूँक देने की धमकी देता है। ये सभी दृश्य संक्रमणकाल की पारिस्थिकी को अभिव्यक्त करते हैं। 'जलडमरूमध्य' कहानी पारिवारिक-मूल्यों के विघटन की चिन्तनीय परिस्थितियों को व्यक्त करती है। मधुरेश इस कहानी के सन्दर्भ में ठीक ही लिखते हैं–''उदारीकरण और भूमण्डलीकरण की आँधी में अपने टीन-टप्पर को सहज बनाये रखना और सँभाल पाना मुश्किल हुआ है। इसने सबसे ज्यादा आदमी के सामाजिक और पारिवारिक जीवन को प्रभावित किया है। घर-परिवार और समाज की छत जैसे उड़ गयी है। आँधी-पानी, सर्दी-गर्मी, धूल-धक्कड़ के बीच आदमी पूरी तरह असुरक्षित और बेसहारा हो गया है। अखिलेश की कहानी 'जलडमरूमध्य' आदमी की इस निरीहता एवं अवसन्नता को गहरी संलग्नता के साथ अंकित करती है।''[9] चिरैयाकोट से गाँव की ओर पलायन वास्तव में सहाय जी के भीतर असुरक्षा और निरीहता को दर्शाता है। घरों के भीतर दुकानों का घुसते जाना उपयोगिता से उपभोग वृत्ति की ओर बढ़ती मानव-सभ्यता को दर्शाता है जो सब कुछ निगल जाने को तत्पर है। 'जलडमरूमध्य' कहानी में सहाय जी चाची और चिन्मय की पीढ़ी के बीच जलडमरूमध्य सदृश्य हैं। सहाय जी द्वारा गाँव से विमुख होकर गाँव या चाची की सुध न लेना वह स्थान हैं जहाँ से सम्बन्ध आत्मकेन्द्रित होने लगते हैं और उसकी पराकाष्ठा छोटे बच्चे मनु में दिखाई देता है। पाठक की संवेदना भले ही सहाय जी की पीढ़ी के साथ हो लेकिन कहानीकार बड़ी सूक्ष्मता से इसी पीढ़ी को जिम्मेदार ठहराता है। अराजक संवेदना के सम्बन्ध होते हुए भी चिन्मय व मनजीत सहाय जी की सम्पत्ति के लिए षड्यन्त्र रचते हैं और छोटे बच्चे मनु को इसमें शामिल करते हुए नहीं झिझकते। सहाय जी जिस संरक्षण के लिए गाँव की शरण लेते हैं वह गाँव भी अपने मूल चरित्र से विमुख नजर आता है, जब चाची की अस्वस्थता के कारण हवेली पहली बार अनाथ होती है। अपने ही पड़ोसी अर्थलोलुप दानव की भाँति हवेली के पीछे की जमीन खोद डालते हैं, पूरी हवेली को क्षत-विक्षत कर डालते हैं। ये वही गाँव हैं जो कभी सहृदय, मानवीय संवेदना से युक्त और कम-से-कम शहरातियों के लिए कुछ हद तक श्रद्धेय हुआ करता था।

'शापग्रस्त' संग्रह की कहानियों में स्त्री-पात्र विशेष भूमिका में नहीं आ पाती हैं। उनकी उपस्थिति कभी-कभी कामुक दृश्यों में परस्पर सम्बन्ध चित्रण तक सीमित कर दी गयी है। स्त्री या तो दीपा (अगली शताब्दी के प्यार का रिहर्सल) और मनजीत ('जलडमरूमध्य') की भाँति आत्मकेन्द्रित, दुष्चरिता है या फिर सरोज वर्मा (शापग्रस्त), सुषमा (पाताल), सावित्री (बायोडाटा) के रूप में ठेठ पतिव्रता। नारी के शिक्षित और सशक्त रूप को उसकी उच्छृंखलता से जोड़कर देखा गया। तो दूसरी वर्ग की स्त्री, पुरुष-आश्रित है। स्त्री या तो अवसरवादी है या निरीह जान पड़ती कोई जीव। सुषमा के भीतर कुछ विद्रोह उमड़ता है लेकिन वह अपमान का घूँट पीकर रह जाती है सम्भवतः अपनी सामाजिक परिस्थिति के कारण। कारण चाहे जो हों स्वचेता स्त्री का नितान्त अभाव अखिलेश के यहाँ दिखाई पड़ता है।

'शापग्रस्त' संग्रह की कहानियों में स्त्री-पात्र विशेष भूमिका में नहीं आ पाती हैं। उनकी उपस्थिति कभी-कभी कामुक दृश्यों में परस्पर सम्बन्ध चित्रण तक सीमित कर दी गयी है। स्त्री या तो दीपा (अगली शताब्दी के प्यार का रिहर्सल) और मनजीत ('जलडमरूमध्य') की भाँति आत्मकेन्द्रित, दुष्चरिता है या फिर सरोज वर्मा (शापग्रस्त), सुषमा (पाताल), सावित्री (बायोडाटा) के रूप में ठेठ पतिव्रता। नारी के शिक्षित और सशक्त रूप को उसकी उच्छृंखलता से जोड़कर देखा गया। तो दूसरी वर्ग की स्त्री, पुरुष-आश्रित है। स्त्री या तो अवसरवादी है या निरीह जान पड़ती कोई जीव। कारण चाहे जो हों स्वचेता स्त्री का नितान्त अभाव अखिलेश के यहाँ दिखाई पड़ता है।

भीतरी सड़ान्ध के साथ उत्तर-आधुनिकता ने सबका मेकओवर कर दिया। मनुष्य, मानवीय-संवेदना, मानव-सम्बन्ध के साथ-साथ, न केवल व्यक्ति बल्कि गाँव-कस्बे की आत्मा के ऊपर कोई चमकीली परत देकर आर्थिक उदारीकरण ने पूरे दौर को शापग्रस्त कर दिया है। अखिलेश ने संक्रमणकाल की इस विभीषिका को बहुत गहरे महसूस किया और उनकी लगभग रचनाओं में इस दौर और तद्जनित विस्फोटक परिस्थिति पर चिन्तन को अनिवार्यतः आवश्यक माना है। नये समय की नयी समस्याओं के लिए कहन की शैली में नवीनता अपेक्षित है। कथाकार अखिलेश इस बात का पूरा ध्यान रखते हैं। इस सन्दर्भ में आशीष त्रिपाठी लिखते हैं–''...एकरेखीय यथार्थ और उनकी सरलीकृत व्याख्याओं का अभ्यस्त पाठक सहजता से अखिलेश की कहानियों को स्वीकार नहीं कर पाता। जटिल, बहुस्तरीय और बहुआयामी वास्तविकताएँ जो एक हद तक उलझी हुई हैं और समझ में न आ पाने के कारण रहस्यात्मक लगती हैं–ज्यादातर विकसित बौद्धिकता की माँग करती हैं।''[10]

सन्दर्भ-सूची

1. खेतान प्रभा, भूमण्डलीकरण ब्राण्ड संस्कृति और राष्ट्र, सामयिक प्रकाशन, संस्करण 2007 पृष्ठ संख्या-92
2. सम्पादक–पल्लव, बनास जन, जनवरी-जून-2015, पृष्ठ संख्या-127
3. सम्पादक–पल्लव, बनास जन, जनवरी-जून-2015, पृष्ठ संख्या-110
4. अखिलेश, शापग्रस्त, राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, नयी दिल्ली, दूसरा संस्करण-2009, पृष्ठ संख्या-122
5. सम्पादक–पल्लव, बनास जन, जनवरी-जून-2015, पृष्ठ संख्या-224
6. सम्पादक–पल्लव, बनास जन, जनवरी-जून-2015, पृष्ठ संख्या-113
7. अखिलेश, शापग्रस्त, राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, नयी दिल्ली, दूसरा संस्करण-2009, पृष्ठ संख्या-54
8. अखिलेश, शापग्रस्त, राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, नयी दिल्ली, दूसरा संस्करण-2009, पृष्ठ संख्या-40
9. सम्पादक–पल्लव, बनास जन, जनवरी-जून-2015, पृष्ठ संख्या-113
10. सम्पादक–पल्लव, बनास जन, जनवरी-जून-2015, पृष्ठ संख्या-127

■

जिन्दगी में 'ईब आले ऊ' के मायने

रक्षा गीता

सिनेमा

एक दृश्य में अंजनी ने देखा है कि घरों के आगे मशीनी लंगूर वही आवाज निकाल रहे हैं यानी जो कुछेक श्रमिकों के रोजगार बचे हैं, मशीनें छीन लेने वाली हैं। ये भविष्य की ओर खतरनाक संकेत भी हैं। मानव किस तरह से मशीन में बदल रहा है या बदला जा रहा है! दोनों ही पक्ष डराने वाले हैं। मई 2022 की खबर है, दिल्ली से सटे नोएडा में 'रोबोट रेस्टोरेण्ट' है 'येलो हाउस', इसमें दो रोबोट ए.आई. के जरिये वेटर की तरह काम करते हैं।

'ईब आले ऊ' विचित्र शब्द लग सकते हैं। किसी शब्दकोश में आपको ये शब्द नहीं मिलेंगे क्योंकि ये जीवन की विसंगतियों और विडम्बनाओं से निकली वे आवाजें हैं जिन्हें हमेशा से नजरन्दाज किया जाता रहा है। हम बात कर रहे हैं फिल्म 'ईब आले ऊ' की, फिल्म की टैग लाइन के अनुसार ''थोड़ी आदमी की कहानी, थोड़ी बन्दर की कहानी और थोड़ी अन्दर की कहानी'' है। फिल्म की पृष्ठभूमि में है–लुटियन्स दिल्ली, जिसमें देश की प्रतिष्ठित सरकारी इमारतें जैसे राष्ट्रपति भवन, इण्डिया गेट, रेल भवन, उद्योग भवन, वायु भवन, विज्ञान भवन, निर्माण भवन आदि हैं और जिनके चारों ओर बन्दरों की फौजों ने कब्जा किया हुआ है, जो इन इमारतों को नुकसान पहुँचाते है, फाइलों को फाड़ देते हैं आते-जाते अफसरों को तंग करते हैं। इन्हें कैसे भगाया जाये! फिल्म इस समस्या से कहीं अधिक इन्हें भगाने वाले उन बेरोजगार युवकों पर केन्द्रित है, जिनके लिए यहाँ नौकरी करना अन्तिम विकल्प है, जो भीख माँगने से कहीं बेहतर है। बन्दरों को भगाने के लिए पहले यहाँ लंगूर बाँधे जाते थे, लेकिन अब लंगूर पालना प्रतिबन्धित है इसलिए सरकार ने एक संविदात्मक नौकरी गढ़ी, जिसमें एक 'ठेकेदार' दिल्ली के निम्नतर वर्ग या स्लमों से आने वाले बेरोजगार युवकों को काम पर रखता है ताकि सरकारी बाबू बिना किसी परेशानी के काम कर सकें और सरकारी इमारतों को भी नुकसान से बचाया जा सके। फिल्म हमें उच्चतम वर्ग और निम्नतर वर्ग की खाई में ले जाती है। अपनी बहन-जीजा के यहाँ अपनी किस्मत आजमाने के लिए अंजनी नामक युवक नौकरी की तलाश में है। यह उसका भाग्य कहें या दुर्भाग्य उसे शीघ्र ही इस सरकारी महकमे में 'बन्दर भगाने वाला' कर्मचारी की संविदात्मक नौकरी मिल जाती है, मात्र ग्याहरवीं पास अंजनी के पास कोई अन्य योग्यता या दक्षता अथवा कौशल भी नहीं। उसकी दीदी अपनी डॉक्टरनी से गर्व के साथ कहती कि उसके भाई की सरकारी नौकरी है, अंजनी चिढ़कर कहता है 'सरकारी नहीं, सरकारी जैसी' क्योंकि सरकारी नौकरी में जो सम्मान मिलना चाहिए उससे विपरीत इन्हें हमेशा अपमान, दुत्कार, धमकियाँ मिलती रहती हैं।

यह कोरियन फिल्म 'पैरासाइट' (परजीवी) की तरह ब्लैक कॉमेडी है। एक वर्ग दूसरे वर्ग का शोषण कर रहा है। फिल्म सामाजिक असमानता, पूँजीवाद और कम-से-कम संसाधनों के बीच संघर्ष करते जीवट लोगों की विसंगतियों को सामने लाती है। इसके साथ ही कई विरोधाभासों को भी रेखांकित करती है। जहाँ एक ओर अंजनी को अपनी नौकरी के तहत इन दुष्ट बन्दरों को भगाना है तो वहीं दूसरी ओर हमारी भारतीय संस्कृति में ये बन्दर भगवान के भी प्रतीक हैं जिन्हें यहीं के सरकारी बाबू केले-चने आदि

लेखिका कालिन्दी महाविद्यालय, दिल्ली के हिन्दी विभाग में असिस्टेण्ट प्रोफेसर हैं।
+919311192384
rakshageeta14@gmail.com

खिलाते हैं और अंजनी के मना करने पर उसे ही धमकी देते हैं। निर्देशक प्रतीक वत्स और सिनेमैटोग्राफर सौम्या नन्द शाही ने भी भारतीय समाज की विसंगतियों को, विरोधाभासों को बारीकी से पकड़ा है और बखूबी दर्शाया है–विशेषकर बन्दरों के हाव-भाव, उनकी प्रतिक्रियाएँ पकड़ पाने में वे कामयाब रहे हैं। उनके दृश्य अभिनय के हिस्से की तरह प्रस्तुत कर कथानक में पिरोना वास्तव में शानदार है।

अंजनी का जीजा एम्यूजमेण्ट पार्क में सुरक्षा गार्ड है। प्रतिदिन नये संघर्ष से शुरुआत करते हुए, सीमित साधनों में भी वह सहजता से अपना जीवन-यापन कर रहा है। उसकी पत्नी गर्भवती है, फिल्म में जो एक आशा और उम्मीद का प्रतीक है; लेकिन इस उम्मीद को पल-पल तोड़ने वाले, हतोत्साहित करने वाले, जिसमें सरकारी डॉक्टरनी भी शामिल है, मिल जाते हैं। सरकारी अस्पतालों में गरीब मरीजों के साथ रूखा व्यवहार व बदतमीजी हुआ करती है। डॉक्टरनी अंजनी के जीजा को ताने देती है–'हीमोग्लोबिन लो है, बीपी लो है, ... दवाई नहीं खाओगे तो बच्चा बेवकूफ पैदा होगा... बीवी का ख्याल रखना आता नहीं है, बच्चे पैदा करते जाते हैं। ...शर्म किया करो, जिम्मेदारी का एहसास है कि नहीं'! इसी तरह ठेकादार भी कहता है 'बीबी पेट से है इसलिए तो शर्म कर रहा हूँ! जब पाल नहीं सकते तो पैदा क्यों करते हो'? जीजा सचमुच शर्म से गड़ जाता है। वास्तव में ये 'हाई सोसाइटी' के वे लोग हैं जिनका इन गरीबों के जीवन में कोई प्रत्यक्ष योगदान नहीं है, जबकि इन गरीबों के बिना अमीरों का गुजारा नहीं। अंजनी और उसके जीजा जैसे लोग जो जिजीविषा के मारे हैं, हर हाल में संघर्ष कर रहे हैं, लेकिन पल-पल की प्रताड़ना, लताड़ना उन्हें हताश-निराश कर जाती है, मानो उन्हें जीने का कोई अधिकार ही नहीं। गुरु जी का बार-बार धमकाना कि 'नौकरी मिल गयी है, मन लगाकर काम कर... सुधर जा नहीं तो भीख माँगेगा दिल्ली के सड़कों पर'! वह उस गलती की हाथ जोड़कर माफी माँगता है जो वास्तव में गलती नहीं, उसकी सूझ-बूझ ही है। कोरोना काल की ऐसी मार पड़ी है गरीबों पर कि उनका भविष्य ही अन्धकार में चला गया। यदि अंजनी जैसों को आगे पढ़ने का मौका मिलता तो शायद यहाँ बन्दरों के बीच न आना पड़ता। फिल्म हाशिये के लोगों की आवाज ही नहीं बनती बल्कि कई रूपकों के आधार पर समाज, धर्म, राजनीति सब पर व्यंग्य करती है। एक पुलिसवाली महिला अंजनी के लिए कहती है ''ये ही गरीब हैं'' तो उसका भाव है, कितने ही गरीब लोग हैं यहाँ! किस-किस को देखें हम? इस सहज से दिखने वाले जीवन के भीतर के अपमान, हताशा, निराशा, थकान को विविध दृश्यों के माध्यम से मार्मिकता प्रदान की गयी है। उनके छोटे-छोटे संघर्ष को दिखाया गया है, जहाँ सामान्यतः हमारी नजर भी नहीं जाती।

फिल्म में बन्दर महत्त्वपूर्ण पात्र हैं। ये बन्दर कहीं भी डॉक्यूमेंट्री की फीलिंग नहीं देते। मनमर्जी के मालिक–ये बन्दर अफसरशाही के भी प्रतीक हैं। मुझे तो इसमें डार्विन का विकासवाद दिखता है, जिसका एक पक्ष यह नजर आया कि बन्दर इनसान तो बन गया लेकिन उसने अभी तक सभ्यता का दामन नहीं थाम सका है। तभी विकसित मेट्रो सिटी आने पर भी अंजनी कहता है ''कहाँ नरक में लाकर फेंक दिये हैं।'' बड़ी-बड़ी बिल्डिंग, बड़े-बड़े पदों पर विराजमान पढ़े-लिखे लोग, कंक्रीट के इस जंगल में इनसान रूपी जानवर हैं, जो श्रमिक-वर्ग को इनसान नहीं समझते। बार-बार उन पर एहसान जताया जाता है जो उनके भीतर असुरक्षा की भावना, भय जगाता है। पल-पल अपमान का सामना करते हुए वे अपने भीतर क्रोध दबाये जी रहे हैं। शहरों की असभ्यता, असंवेदनशीलता तथा अमानवीयता, अपने ही भारतीय प्रवासियों को हेय दृष्टि से देखने की प्रवृत्ति का फिल्म विश्लेषण करती है। आशा-विश्वास के साथ आये इन अत्यन्त मेहनती लोगों को ये असंवेदनशील शहरी मशीन की तरह 'ट्रीट' करते हैं–मशीन जो थकती नहीं, जिन्हें अपना दिमाग इस्तेमाल करने की इजाजत नहीं। अंजनी अपनी सूझ-बूझ से जगह-जगह लंगूर के पोस्टर लगाता है, जो कारगर साबित हो रहा था लेकिन उसे नौकरी से निकाल दिया जाता है। फिल्म हमें उन छोटी, गन्दी, सँकरी गलियों में भी ले जाती है जहाँ अधिकतर मकानों के रंग जाने किस आशा में नीले रंग से रँगे है। नौकरी के सिलसिले में अंजनी पुरानी दिल्ली के पुराने बाजारों सदर बाजार, आजाद मार्किट आदि में जाता है। वह कुली बनने को तैयार है लेकिन वहाँ भी निराशा ही हाथ लगती है। वे बाजार जहाँ हम झाँके तक नहीं हैं, जो शायद सिनेमाई पर्दे पर कभी नहीं आये, फिल्म उन अनदेखी तस्वीरों को भी दिखाती है।

एक दृश्य में अंजनी और उसकी मित्र एक खबर पढ़ते हुए बात कर रहे हैं–'वन्य जीव संरक्षण अधिनियम' के तहत अब बन्दरों को बन्दी बनाने पर रोक लगा दी गयी है लेकिन किसी संजय पूनिया नामक व्यक्ति जिसके गाँव में बन्दरों का कहर था, ने दहेज में लंगूर माँग लिया और लड़कीवालों ने दे भी दिया तो बाद में उस पर केस कर दिया गया कि उसने बन्दरों को बन्दी बनाने का अपराध किया है। यहाँ मित्र प्रश्न करती है–'संजय पूनिया ने दहेज माँगा इसके लिए उस पर कोई कार्यवाही नहीं हुई'–जो हमारी विवाह संस्था और दहेज पर व्यंग्य है! एक अन्य दृश्य में यह मित्र उसके लिए कम्प्यूटर पर उसके लिए नौकरी खोज रही है। अंजनी कहता है–''3 करोड़ नौकरी है दिल्ली में, दिल्ली आओ, आज दिल्ली में बैठे हैं, पूरे जहाँ-भर की नौकरी है, पर मेरे लिए कोई नहीं'' क्योंकि उसके पास योग्यता नहीं, दूसरों के घर में कपड़ा-बर्तन जैसे काम कर नहीं सकता। तो मित्र कहती है–''गाड़ी चलाना आता है? खाना बनाना, कम्प्यूटर चलाना, बिजली-पानी का कोई काम आता है? तो अंजनी गुस्से में कहता है–''अरे नेता मत बनो... मित्र जब कहती है–नेता नहीं बन रहे हैं समझदारी की बात कर रहे हैं।... तो अंजनी बिफर पड़ता है–अपना समझदारी अपने पास रखो हवा में मत उड़ो, चार किताब पढ़कर हेड मास्टरनी समझ लिया खुद को।'' पितृसत्ता में पगी इस झुँझलाहट को आसानी से समझा जा सकता है लेकिन मित्र कहकर चली जाती है–तो खुद ढूँढो!

फिल्म कोरोना के बाद की सामाजिक आर्थिक स्थिति बताती है। अमीर-गरीब के बीच बढ़ती खाई को फिल्म सूक्ष्मता से दिखाती है। फिल्म 'जाने भी दो यारों' की तरह सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था पर व्यंग्य है तो राजनीति, धर्म, अन्धविश्वास पर भी टिप्पणी करती है। कनॉट प्लेस के हनुमान मन्दिर का दृश्य, जब अंजनी की दीदी एक पण्डित से भविष्य पूछ रही है तो पण्डित एक पंक्ति सुनाते हैं तो वह जवाब देती है–

''भगवान यह बोल रहे हैं कि करते रहो पूजा और 'अच्छे दिन आएँगे' लेकिन कहाँ कैसे? अच्छे दिन आ ही नहीं रहे हैं!'' फिल्म में महेन्द्र का किरदार वास्तविक है, जिससे प्रेरित होकर यह फिल्म बनी है और निभाया भी महेन्द्र ने ही है। महेन्द्र की तो कई पुश्तें इस काम में लगी हुई थीं, जबकि अंजनी के लिए यह न केवल नया है बल्कि उसके भीतर यह काम न करने की अनिच्छा भी है। उसे लगता है कि उसे कोई और काम करना चाहिए लेकिन विवशता है, उसके पास कोई और काम नहीं है। कुछ महत्त्वपूर्ण संवाद जो महेन्द्र अंजनी को समझा रहा है 'यह नौकरी खेल नहीं है बच्चों का, यहाँ तेल निकल जाता है अच्छे-अच्छों का... बन्दर है तो डर तो लगेगा करेगा... मारना नहीं है डराना ही है... यह दूर के ढोल सुहाने है जब बन्दरों का सामना होगा ना तब देखना... हमें नौकरी भी करनी है इन बड़े अधिकारियों और पब्लिक का, इन सभी से तालमेल बिठाना है... डरा न उनको आवाज क्यों नहीं बनाता? अपनी आवाज बनाकर भगा उनको... यह रायसिना रोड है यहाँ इन बन्दरों का परचम है यहाँ तक कोर्ट भी यही बात कह चुका है कि यह बन्दरों का इलाका है–यह अफसरशाही तन्त्र पर टिप्पणी है। जब वो गुलेल का इस्तेमाल करता है तो महेन्द्र कहता है–''ये केवल दिखाने के लिए दिया है।'' इसी तरह जीजा को भी तनख्वाह में 1500 रुपये बढ़ाये लेकिन हाथ में बन्दूक दे दी जिसे देखकर पत्नी डर रही है, अंजनी कहता है–''हथियार दिया है तो चलेगा न''! अमेरिका हथियार बना रहा है इसलिए बिक भी रहे हैं। लेकिन बन्दूक है पॉवर है और पॉवर से आम इनसान हमेशा असहज रहता है–बन्दूक के बोझ से उसकी हालत खराब हो गयी है। कोई दो-ढाई मिनट के सीन में जबकि ट्रेन गुजर रही है कभी साइकिल सँभालता है कभी कम्बल। ट्रेन के इस पार और उस पार के कई दृश्य सामाजिक विभाजन की ओर संकेत करते हैं। एक दृश्य में अंजनी ने देखा है कि घरों के आगे मशीनी लंगूर वही आवाज निकाल रहे हैं यानी जो कुछेक श्रमिकों के रोजगार बचे हैं, मशीनें छीन लेने वाली हैं। ये भविष्य की ओर खतरनाक संकेत भी हैं। मानव किस तरह से मशीन में बदल रहा है या बदला जा रहा है! दोनों ही पक्ष डराने वाले हैं। मई 2022 की खबर है, दिल्ली से सटे नोएडा में 'रोबोट रेस्टोरेण्ट' है 'येलो हाउस', इसमें दो रोबोट ए.आई. के जरिये वेटर की तरह काम करते हैं। मालिक के अनुसार इन रोबॉट्स की मेण्टेनेंस जीरो है, चार्ज करने में में मात्र ढाई घण्टा लगता है और ये पूरा दिन काम करते हैं।

फिल्म का अन्त अत्यन्त दारुण है, देखकर अनुभव होता है–'जोरावर सिंह मारे भी जाये, और रोने भी न दे' मानो किसी ने जोरदार धक्का दिया हो, हम गिरते-गिरते बचे। देखकर तकलीफ होती है, दिल बैठ-सा जाता है, पर हम अपनी स्थिति पर सन्तोष करते हैं। जबकि इनसान जानवर बन चुका, तमाशा कर रहा है, धर्म और राजनीति मदारी की तरह इनके तमाशे पर फल-फूल रहे हैं। फिल्म के अन्तिम भाग में अंजनी दशहरे की जुलूसनुमा झाँकियों से गुजर रहा है, जहाँ खाना बँट रहा है उस भीड़ में खाने के लिए वह भी संघर्ष कर रहा है। रोटी-रोटी का यही फर्क है कि अमीर को जब भूख लगे उसे मिल जाती है जबकि गरीब को जब उपलब्ध हो तभी भूख जागती है वरना वह भूख को दबाये-सुलाये रहता है। वह पत्तल में खाते हुए झाँकियाँ देख रहा है, तभी हनुमान का नृत्य होने लगता है। हनुमान को देखकर अंजनी के चेहरे पर भय फैलने लगता है वह उन्हीं विचित्र आवाजों ईब... आले... ओऊ को निकालने की कोशिश करता है, पर आवाज नहीं निकल रही चाह कर भी चिल्ला नहीं पा रहा। झाँकियों के लंगूरों की एक टोली अंजनी का मुँह काला कर उसे अपनी टोली में शामिल कर लेती है। अंजनी पहले घबराता है पर फिर उनके जैसा व्यवहार करने लगता है। अब स्क्रीन पर अजीब हरकतें करते हुए उन्मत्त मनुष्य, बहरुपिये हैं जो देश में बेरोजगार युवकों के धार्मिक उन्माद की झाँकी-भर हैं। बिना कोई शब्द के अंजनी एक विचित्र उन्माद में (डरा हुआ नहीं) बुरी तरह नाच रहा है तो अन्य सभी उसे रहस्यमयी दृष्टि से देख रहे हैं–अब अंजनी विवेकहीन इनसान है। 'अच्छे दिनों' के इन्तजार ने इनसान को लंगूर बना दिया। अन्तिम दृश्य तक गीत-संगीत, आवाजें बन्द हो जाती हैं। 'आवाजें' जिसका महत्त्व महेन्द्र पहले बता चुका है कि 'तू अपनी आवाज क्यों नहीं बनाता'–आवाज नहीं बना पाना आवाज न उठाने की ओर संकेत है। महेन्द्र की मौत ड्यूटी पर उस समय हो जाती है जब कुछ बन्दरों के उपद्रव मचाने पर वह एक बन्दर को मार देता है और भीड़ गुस्से में आकर उसकी मॉब लिंचिंग कर देती है। एक कर्मचारी बहुत आसानी से कहता हुआ आगे बढ़ जाता है कि 'महेन्द्र को भीड़ ने मार दिया' मानो कोई मच्छर मार दिया गया हो! एक दृश्य में अंजनी को उसके साथी बन्दरों के लिए बनाये गये ट्रैप-पिंजरे में कैद कर देते हैं। वह रोता है तो कहते हैं–''पहले बन्दर की तरह केला खाओ फिर गेट खोलेंगे।'' बेचारा रोते-रोते केला खाता है लेकिन बाहर निकलते हुए केला इस भाव के साथ फेंक देता है कि अपमान की रोटी नहीं चाहिए! अन्त में आपकी जानकारी के लिए बता दूँ कि जब बन्दर भगाने की नौकरी पर गूगल बाबा ने बताया कि जी20 (2023) समित में 20,000 रुपये सैलरी में एक ही परिवार को बन्दर भगाने का काम मिला तो उसके सदस्य मंगल सिंह ने बताया कि पहले उसका परिवार बन्दरों को भगाने के लिए लंगूर पालता था जो अब बैन है, सरकार ने लंगूरों से काम लेने पर पाबन्दी लगा दी, तब से अब वे लंगूर की आवाज निकालकर यह काम कर रहे हैं। ईब आले ऊ का सिलसिला थमा नहीं है।

■

फिल्म में बन्दर महत्त्वपूर्ण पात्र हैं। ये बन्दर कहीं भी डॉक्यूमेंट्री की फीलिंग नहीं देते। मनमर्जी के मालिक–ये बन्दर अफसरशाही के भी प्रतीक हैं। मुझे तो इसमें डार्विन का विकासवाद दिखता है, जिसका एक पक्ष यह नजर आया कि बन्दर इनसान तो बन गया लेकिन उसने अभी तक सभ्यता का दामन नहीं थाम सका है।

निर्माण प्रक्रिया की मौन सहयात्रा

पुस्तक समीक्षा

प्रमोद कुमार झा

झारखण्ड राज्य के निर्माण को चौबीस वर्ष से अधिक हो चुके हैं। सामान्यतः किसी राज्य को विकसित होने के लिए इतना समय काफी होना चाहिए पर यहाँ की स्थिति अब भी उलझी-सी ही है। पूरी दुनिया को पता है कि भारत का यह भू-भाग अपने गर्भ में अकूत खनिज-सम्पदा समेटे है। प्रायः यही इसके अस्तित्व के लिए बड़ा संकट भी बन बैठा है। यूँ तो पिछले पच्चीस सालों में इस मुद्दे पर सैकड़ों पुस्तकें लिखी गयी हैं लेकिन वरिष्ठ कवि, लेखक विद्याभूषण की पुस्तक 'बदलाव के तिराहे पर झारखण्ड' एक अलग रस और स्वाद लिये है। आठवें दशक पार कर चुके विद्याभूषण जी ऐसे 'युवा' लेखक हैं जो पूर्व की तरह निश्चित क्रम में आज भी प्रतिदिन पढ़ते और लिखते हैं। यह पुस्तक उनके इसी पुरानी आदत का प्रतिफल है।

इस पुस्तक में विद्याभूषण ने झारखण्ड निर्माण प्रक्रिया के एक मौन सहयात्री की तरह पिछले लगभग सात दशक में हुए परिवर्तन का रोचक लेखा-जोखा प्रस्तुत किया है। बहुत सरल और प्रवहमान भाषा में लिखी इस पुस्तक न कहीं क्लिष्टता नहीं है न सपाट बयानी। लेखक एक कथाकार, उपन्यासकार, सम्पादक, आलोचक भी रह चुके हैं, पर इसके साथ-साथ वह एक गम्भीर पाठक भी बने रहे। लेखक लगभग सत्तर वर्षों से राँची में रह रहे हैं और उस प्राकृतिक राँची को वर्तमान कंक्रीट के जंगलवाले राँची में तब्दील होते हुए उन्होंने देखा है–एक मौन सहयात्री जो गहन पीड़ा और धैर्य के साथ सिर्फ देख रहा है और महसूस कर रहा है। विद्याभूषण जी ने बहुत हलके से इंग्लैण्ड और अन्य पश्चिमी देशों में हो रहे तथाकथित 'विकास' का भी हवाला दिया है। इसकी भी चर्चा इस पुस्तक में है कि यहाँ के मूल निवासियों की जीवन-शैली और सामान्य जीवन किस बुरी तरह प्रभावित हुआ है इस आधुनिकीकरण और औद्योगिकीकरण के भूकम्प से। पुस्तक छः खण्डों में विभाजित है– 'झारखण्ड की समाज–संरचना', 'जनजातीय जीवन और समाज', 'संस्कृति और परम्परा', 'बदलाव के तिराहे पर झारखण्ड', 'विकास की अवधारणाएँ' तथा 'निपट वर्तमान और सम्भावित भविष्य'।

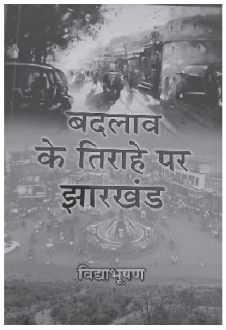

लेखक : विद्याभूषण
प्रकाशक : ग्रन्थ अकादमी, दिल्ली
मूल्य : ₹ 300/-

उसके पूर्व 'प्रथम पुरुष : नये शब्द' शीर्षक आलेख में पुस्तक के बारे में अपनी बात कहते हुए वे लिखते हैं–''समय और समाज के कालांकित इतिहास में कोई अध्याय अन्तिम नहीं होता, क्योंकि दोनों निरन्तर गतिशील हुआ करते हैं। जीवन चाहे व्यक्ति का हो समाज का, वह हर पल नये अनुभव व परिदृश्य से जुड़ता जाता है। इस क्रिया-प्रतिक्रिया में बदलाव के अनगिनत कथासूत्र अलिखित होते हैं। आज की तारीख में दर्ज ये शब्द एक अविच्छिन्न परम्परा का पुनर्पाठ हैं।''(पृष्ठ 7)। लेखक ने पुस्तक के प्रारम्भ में ही इस राज्य के भविष्य के बारे में थोड़ी चिन्ता व्यक्त की है जो कभी-कभी निराशाजनक भी लग सकती है। विद्याभूषण लिखते हैं कि–''समग्रता में देखें तो फिलहाल हर तरफ युक्ति, तर्क और औचित्य पर विमर्श का संसदीय रास्ता बन्द हो गया लगता है... संयुक्त विपक्ष का चुनाव-प्रचार दिशाहीन तब हुआ, जब उसने पंचायत चुनाव में टीनेंसी ऐक्ट से जुड़ी भ्रामक सूचनाओं का इस्तेमाल करते हुए उसे अपनी ओर मोड़ने की नाकाम कोशिश की। राज्य गठन के बाद का दशक झारखण्ड की छवि को भ्रष्टाचार की स्याही से लिखते हुए दागदारी के स्कोर बोर्ड पर कई रिकॉर्ड बना चुका है। सूचना क्रान्ति और सूचनाधिकार के इस दौर में भी सच का चेहरा पहचान पाना मुश्किल हो गया लगता है। तो भी नये रास्ते खुल रहे हैं और अवाम की उम्मीदों का सफर जारी है...''। लेखक कहीं-कहीं राजनीतिक घटनाक्रम और परिवर्तन से हताश से लगते हैं पर उन्हें उम्मीद भी है कि इस प्रान्त के मेहनतकश लोग अपनी एक सुदृढ़ सभ्य प्रगति का मार्ग भी ढूँढ़ निकालेंगे। विद्याभूषण जी ने झारखण्ड के मूलवासियों की समस्या को भी निकट से जाना और समझा है पर अपनी लेखनी में वे मात्र 'विरोध' को ही निदान नहीं मानते हैं। किसी भी प्रगतिशील समाज में आपसी सहमति और सबकी भागीदारी से ही एक सकारात्मक रास्ता ढूँढ़ा जा सकता है। लेखक अनुभव करते हैं कि अब तक जिन उद्देश्यों से झारखण्ड प्रान्त का निर्माण किया गया था उसमें पूरी सफलता नहीं मिली है। पुस्तक अध्ययन के क्रम में विभिन्न पुराने ऐतिहासिक सन्दर्भों और संस्कारों, संस्कृतियों की चर्चा करते हुए वे बताते हैं कि इस क्षेत्र की संरचना और विभिन्न जीवन-शैली की आवश्यकताओं को भी नजरअन्दाज किया जाता रहा है।

झारखण्ड बहुत संस्कृतियों, भाषाओं और समुदायों का क्षेत्र रहा है, उन सबका अलग-अलग महत्त्व है। 'संस्कृति और परम्परा' अध्याय में लेखक इस क्षेत्र में होने वाली समस्याओं से चिन्तित दिखते हैं–''... झारखण्ड की सांस्कृतिक यात्रा की यह परिक्रमा उसके उद्भव, विकास और संघर्ष की झलक देती है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि संस्कृति अपने अस्तित्व और अस्मिता के लिए हमेशा संघर्ष करती आयी है...।''

एक सौ बानबे पृष्ठ की इस पुस्तक के अन्त में लेखक ने सन्दर्भ-ग्रन्थों और पत्र-पत्रिकाओं की एक सूची भी संलग्न की है जो इस पुस्तक को एक विश्वसनीयता प्रदान करती है। इसे सामान्य रुचि के साथ पढ़ना प्रारम्भ करते हैं पर उसके बाद बीच में छोड़ने की इच्छा नहीं होती। ये सम्प्रेषणीयता बहुत विरले ही कथा-कहानी में भी आ पाती है।

पुस्तक संग्रहणीय और पठनीय है।

लेखक दूरदर्शन के पूर्व निदेशक हैं और दशकों से मैथिली, अँग्रेजी और हिन्दी में लेखन करते रहे हैं।
+917903915998
pramodkjhaptn@gmail.com

■

लिये लुकाठी हाथ

हाँ पुल गिरा, तो?

निवास चन्द्र ठाकुर

मैं हेयर कटिंग सैलून में अपनी बारी का इन्तजार कर रहा था। टाइम काटने के लिए पेपर उठा लिया। एक न्यूज पर अटक गया, 'ग्यारह दिनों में पाँच पुल गिरे!' शीर्षक पढ़कर मैं गब्बर सिंह स्टाइल में अनायास बोल उठा, ''ग्यारह दिनों में सिर्फ पाँच पुल! इतनी धीमी स्पीड! यह तो नाइन्साफी है, सरासर नाइन्साफी है! इसकी सजा मिलेगी, जरूर मिलेगी!''

मैंने ध्यान नहीं दिया था कि मुन्ना बाबू बाल काले करवा रहे हैं। मुन्ना बाबू सांसद प्रतिनिधि हैं और बेटा विधायक प्रतिनिधि है। पालिटिक्स इनका खानदानी व्यवसाय है।

डाई करते हाथ उन्होंने झटक दिये और सीधे मुझे घूरते हुए बोले–तो का हो गया जेण्टलमैन! आसमान उठा लिये हैं माथे पर! पिछली सरकार में पुल अमृत पिये थे का! गिरते थे न जी?... मैं सकपका गया, नहीं मुन्ना बाबू बात पुल गिरने की स्पीड पर है। ग्यारह दिनों में पाँच पुल गिरे तो कोई भी कहेगा कि भ्रष्टाचार चरम पर है।

मुन्ना बाबू के बाल खड़े हो गये जैसे करेण्ट लग गया हो।

टोन ऊँचा हो गया, ''देखिये अब आप हमारी आस्था पर चोट कर रहे हैं'' मैंने हड़बड़ाकर कहा, भ्रष्टाचार की बात से आपकी आस्था पर चोट कैसे हो गया भाय जी!

अब वे तन गये, लगते तो हैं आप पढ़े-लिखे। हिन्दू भी लग रहे हैं, तो गोसाईं जी को पढ़े ही होंगे! लिखे हैं–

धरा को प्रमाण यहै तुलसी
जो फरा सो झरा, जो जरा सो बुताना!

माने कि जो धरती पर आया है उसको जाना ही है। यही तो विकास का प्रमाण है। मैं फिर बड़बड़ाया–पर इतना जल्दी-जल्दी ढहना! –अब मुन्ना बाबू चीखने लगे।

कहा था न मैंने कि यह हमारी आस्था पर चोट करने का विपक्षी एजेण्डा है। अब देखिये, आदमी को भगवान बनाते हैं न जी! बोलिये! तो फिर कोई पेट में, कोई जनमते समय, कोई दिन-दो दिन में, कोई एक सौ बरस में क्यों मरता है? यही बात पुल पर भी लागू होती है। है न जी? तो बात साफ है कि पुलबा पर बात उठाकर आप भगबान को भी कठघरे में खड़ा कर रहे हैं न जी! उन पर भी तो आरोप लगा रहे हैं। धरम से इतनी नफरत! हमारी आस्था पर यह चोट नहीं तो क्या है! बाप रे बाप! यही है छद्म धर्मनिरपेक्षता!

चलिये मुन्ना बाबू पुल गिरते रहना ही एक प्रमाण नहीं न है भ्रष्टाचार का। आप देखे ही होंगे टीवी और पेपर में एक पुल का फोटो। वहाँ चारों ओर खेत-ही-खेत है। पुल के नीचे कोई नदी नहीं, कोई सड़क नहीं। सोचिये बेमतलब पुल बनाकर पैसा खाने का खेल ही हुआ न? मुन्ना बाबू ने माथा ठोंक लिया मेरी अज्ञानता पर। बोले देखिये जनता ने सिर्फ पुल का डिमाण्ड किया था, रोड की माँग नहीं थी। हमारी सरकार जनता की बात पर चलती है, जो माँगा जनता ने, वह मिला। अगली बार सड़क की माँग करवाइये। दो-चार महीने में पुलबा ढहबे करेगा न जी, फिर रोड बना देंगे। मैंने अपना माथा पीट लिया तो वे शान्त हो गये। एकदम गाँधीवादी की तरह पवित्र भाषा में बोले, देखिये हम भ्रष्टाचार के कट्टर विरोधी रहे हैं। जनता से कम्प्लेन करवाइये। हम 'पुल ढहन न्यायिक आयोग' बनाकर जाँच करवा देंगे। चलिये वचन दिया। इसमें दस-पन्द्रह परिवार के लिए नौकरी भी मैनेज कर लेंगे। फिर बिल्डिंग, फर्नीचर, गाड़ी छकड़ा, ऑफिस सामान आदि में सेवा का मौका भी मिलेगा न जी। जज भी मिल जाएगा, अपना साला जी कोर्ट से रिटायर कर बैठे हैं। चिन्ता नहीं करनी है। देखिये हमारी सरकार साफ-सुथरी है। कुछ भी छिपाने का नहीं है।

मैं हक्का-बक्का हो रहा था, उधर समाज-कल्याण के प्रति उनका जोश बढ़ता ही जा रहा था। बोलने लगे–

पुलबा गिरेगा, तब न बनेगा जी! एक पुल बनने से कितने का कल्याण होता है, पता है? गरीब मजदूर, आस-पास, समाज, कार्यकर्ता, जनप्रतिनिधि, अमला-कफला, ठेकेदार, नेता, एन.जी.ओ. आदि-आदि! यानी सबका साथ सबका विकास! ऐसे ही विकास नहीं होता है न जी! विकास विरोधी तो विरोध करेंगे ही न? अलमारी में ताला लगाकर पैसबा रख देने से विकास नहीं न होगा जी! और हाँ जान लीजिये कि पुल केरल में भी गिरा था कोट्टायम में। गुजरात में तो पुल गिरते ही रहते हैं। दो-तीन साल पहले दिवाली के एक दिन पहले मोरबी में बना झूला पुल जनता के लिए खुलते ही झूला झूल गया और मच्छू नदी में मछली पकड़ने समा गया। तभी तो ये सभी राज्य विकास में अव्वल हैं। पुल ढहने के मामले में काश्मीर से कन्याकुमारी तक भारत एक है!

देखिये कुछ स्वार्थी तत्त्व हमारी इस विकास गति से जल रहे हैं। आप देश के विकास के विरोधी नहीं हैं न जी? फिर पुल गिरने पर सवाल क्यों खड़ा कर रहे हैं! मैं जैसे शरम से गड़ा जा रहा था। एकदम हक्का-बक्का!

लगा मेरा पुल बनने के पहले ही भरभरा गया। मुझे आज लग रहा है कि राष्ट्र के निर्माण-यज्ञ की इस नूतन परिकल्पना से मैं अपने हिस्से की समिधा डालने के लिए कोई पुल कहाँ तोड़ पाऊँगा! आज इस विकास-यात्रा में मैं कितना दूर छूट गया! पुल गिरते रहने से जारी इस विकास-यात्रा को मेरा साष्टांग दण्डवत!

लेखक सृजनशील मीडियाकर्मी तथा जेवियर कॉलेज, राँची में हिन्दी के प्राध्यापक रहे हैं।
+919431178550
thakur.niwas07@gmail.com

■

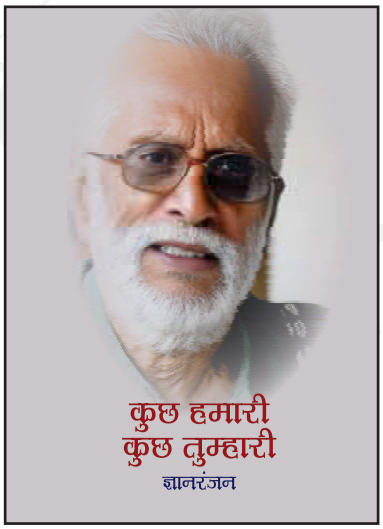

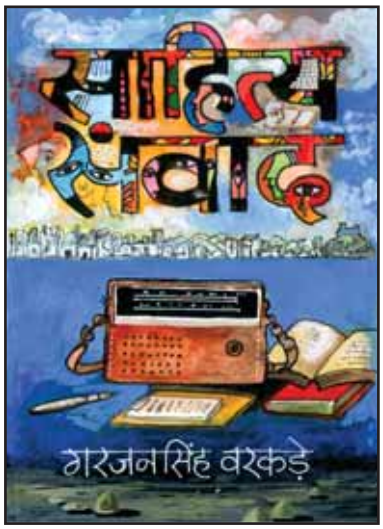

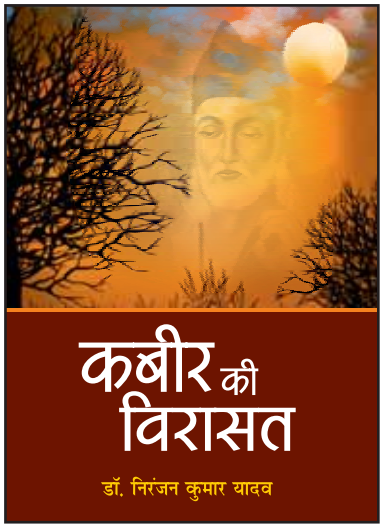

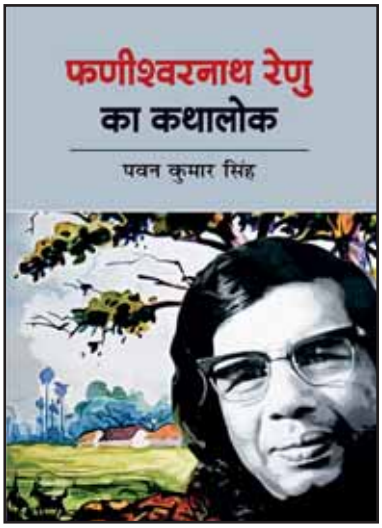

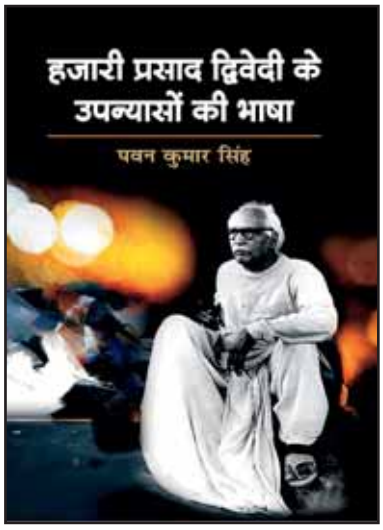

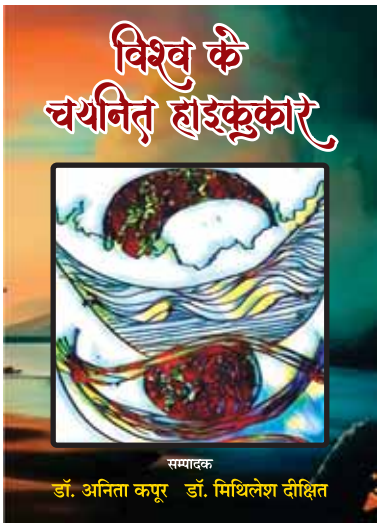

Available at : amazon.in

रचनाकार पब्लिशिंग हाउस

D-18, Gali No.9, Jagatpuri Extn., Delhi
9910143493
Rachnakarpublishing House
rachnakarpublishinghouse@gmail.com
rachnakar publishing house

TARU

तरू

खेत, किसान और कृषि आजीविका

'तरू' उत्साही एवं जानकार लोगों की टीम है जिनका मिशन है,
टेक्नोलॉजी के ज़रिये कृषि सशक्तीकरण और टिकाऊ खेती की ओर किसानों को प्रेरित करना।

TARU

+91 96112 44553
linkedin.com/company/taru.ag/
info@taru.ag
facebook.com/taru.agri/